हिन्दी आलोचना का विकास

(173)

निकष :

'हिन्दी आलोचना का विकास' में हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों, स्वरूप, विषय एवं विस्तार के विवेचन के साथ कुछ प्रमुख आलोचकों का परिचय भी दिया गया है। जिन आलोचकों का परिचय नहीं दिया गया है, ऐसा नहीं है कि वे आलोचक नहीं हैं या मेरा उनके प्रति अवमानना का भाव है। उन सभी का हिन्दी आलोचना के विकास में योगदान है, यह निश्चित है। विवेचन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि जो कुछ भी कहा जाए, स्पष्टता और सरलता से कहा जाए। अनावश्यक दुरूहता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति से भरसक बचने का प्रयत्न किया गया है। आशा है, पुस्तक साहित्य प्रेमियों एवं विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

श्रद्धेय श्री अमीर बहादुर सिंह जी का कृतज्ञ हूं, जिन्होंने समय-समय पर मुझे बड़ी प्रेरणा दी है। उनके परिश्रम एवं अध्यवसाय से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं। कुमारी मधु सिनहा, कुमारी वीणा अग्रवाल और श्री कुन्दन लाल साहू ने प्रेस कापी तैयार करने एवं अनुक्रमणिका बनाने में मेरी बड़ी सहायता की है—पर वे सब मेरे इतने निकट हैं कि धन्यवाद क्या दूं? वे सभी मेरी हार्दिक शुभ कामनाओं के पात्र हैं।

उन सभी लेखकों के प्रति आभारी हूं, जिनकी पुस्तकों से सहायता ली गई है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय भवन के कर्मचारियों, विशेषतया तरुण कथाकार भाई मोहन जी मेहरोत्रा, श्री यमुना प्रसाद द्विवेदी तथा श्री माता सेवक जी का कृतज्ञ हूं, जिन्होंने पुस्तकों की व्यवस्था कर मुझे बड़ी सहायता दी है। बिना उनके सहयोग के पुस्तक का पूर्ण होना संभव नहीं था।

विजयादशमी २७ अक्टूबर, १९६३
कल्पना,
१६ पुरुषोत्तमनगर, हिम्मतगंज
इलाहाबाद—३

—सुरेश सिनहा

जिन्होंने मेरी किसी इच्छा पर कभी
अंकुश नहीं लगाया, और अपने
पितृ-तुल्य स्नेह से सदैव
मुझे दिशा एवं
समर्थता प्रदान
की

उन्हीं
आलोचक-प्रवर
श्रद्धेय आचार्य डॉ० लक्ष्मी सागर जी वार्ष्णेय
को सादर

विषय सूची

१

विषय एवं विस्तार

आलोचना क्या है

'आलोचना' शब्द 'लुच' धातु से बना है : 'लुच' का अर्थ है 'देखना'। इसे इस रूप में ग्रहण किया जाता है कि किसी कृति को देखना। देखना से अभिप्राय है उसकी व्याख्या करना एवं सम्यक् मूल्यांकन करना। राजशेखर के अनुसार आलोचक की प्रतिभा कवि कर्म को प्रकाश में लाने की सक्षमता पर निर्भर करती है। आलोचक एक कृति को उठाता है और उसकी विशेषताओं एवं अभावों की परीक्षा करता है। यह 'परीक्षा' शब्द भी 'आलोचना' के ही अन्तर्गत आता है। आलोचना[1] ही वह माध्यम है, जो कला का जीवन में श्रेष्ठतम महत्व प्रतिपादित करती है। आलोचना कला से कोई भिन्न चीज नहीं है, वरन् वह घनिष्ठ रूप में कला से सम्बद्ध है। कला का रूप सँवारने एवं निखारने तथा जीवन में उसकी महत्ता का स्पष्टीकरण करने का कार्य आलोचना करती है। मिडिल्टन मरे के अनुसार जीवन की सजगता कला का

1—"In its strict sense the word criticism means judgement, and this sense commonly colours our use of it even when it is most broadly employed. The literary critic is therefore regarded primaily as an expert who brings a special faculty and training to bear upon of literary art, or the work of a given author, examines its merit and defects, and pronounces a verdict upon it".

—विलियम हेनरी हडसन: एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर; (मार्च १९६०), लन्दन, पृष्ठ २६१

रूप है और कला की सजगता आलोचना का अन्यतम रूप है। आलोचना और कला में कोई तात्विक भेद नहीं है।

आलोचना के प्रारम्भिक काल में 'आलोचना' का अर्थ केवल छिद्रान्वेषण ही समझा जाता रहा है; अर्थात् आलोचना किसी कृति के दोष एवं न्यूनता मात्र को स्पष्ट कर लेखक से एक सर्वथा विरोधी दृष्टिकोण रखते हुए उसकी कृति पर आहार-प्रहार करना। जिस किसी भी व्यक्ति में आहार-प्रहार की यह विशेषता चरम रूप में प्राप्त होती थी उसे ही युग का सर्वश्रेष्ठ चिन्तक एवं आलोचक स्वीकार कर लिया जाता था। स्पष्ट था कि छिद्रान्वेषण का यह संकुचित अर्थ आलोचना के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित एवं उसके स्वरूप को अत्यन्त दूषित बना देता था। इसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। फलतः यह मान्यता साहित्य के क्षेत्र में अधिक दिनों तक प्रचलित न रह सकी। उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्य मनीषियों एवं विचारकों ने इस संकुचित मान्यता को अस्वीकार कर आलोचना के नवीन अर्थों का प्रतिपादन किया। इस नवीन विचारधारा के अनुसार आलोचना का अर्थ किसी रचना विशेष की विशेषताओं की ओर संकेत करके न्यूनताओं की ओर आँखें फेरना ही नहीं, उन पर आवरण डालना ही आलोचना का धर्म समझा गया, पर इन चरमपन्थियों का मत भी सर्वमान्य न हो सका। इस काल में दो और विचारधाराएँ प्रचलित हुईं। एक के अनुसार किसी रचना की मात्र विशेषताएँ ही स्पष्ट करना भी हितप्रद नहीं समझा गया क्योंकि न्यूनताओं के प्रकाशन न होने से फिर तो सभी रचनाओं को श्रेष्ठता की सीमा में रखना पड़ेगा। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों का कहना था कि यदि मात्र न्यूनताओं की ओर ही संकेत किया जाएगा तो श्रेष्ठ साहित्य की रचना युग में कभी भी न हो सकेगी और लेखकों का दल अपनी रचना के पर्याप्त स्वागत न होने एवं उचित मूल्यांकन के अभाव में निराशा एवं कटुता के वातावरण में लेखन कार्य से विमुख हो जाएगा। इस विरोधाभास की स्थिति में एक समन्वित विचारधारा का प्रतिपादन किया गया, जिसके अनुसार किसी कृति की विशेषताओं एवं न्यूनताओं दोनों की ओर संकेत करना आलोचना का अर्थ समझा जाने लगा।

आगे चलकर आलोचना के अर्थ में और भी परिवर्तन हुआ और यह मत निश्चित किया गया कि आलोचना को तुलनात्मक पद्धति अपनानी चाहिए; अर्थात् आलोचना का वास्तविक अर्थ यह होना चाहिए कि

वह सिद्धान्तों के आधार पर, प्रचलित मान्यताओं के आधार पर और उसी क्षेत्र एवं स्तर की दूसरी पुस्तक से किसी रचना विशेष की तुलना करके अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में अपना निर्णय मात्र दे दें। कुछ लोगों ने आलोचना का अर्थ यह भी लगाया कि किसी कृति की परख ज्यों की त्यों करने में ही आलोचना के अर्थ की चरम अभिव्यक्ति होती है। पर इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठाया गया कि इस परख की कसौटी क्या होनी चाहिए? फिर इस प्रश्न का समुचित उत्तर न मिलने के कारण जिस तीव्र गति से यह प्रश्न उठाया गया था, उसी गति से वह विवादग्रस्त वातावरण में समाप्त हो गया। एक विचारधारा यह भी प्रचलित हुई कि वास्तविक आलोचना इस सृष्टि के स्रोत और अन्तस्य के सर्वोत्तम स्वरूप का अन्वेषण करने का साधन है।[1] यहाँ वस्तुतः प्रश्न उठता है कि आलोचना का वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए? आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक विचित्र सी अराजकता का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आलोचना का कोई निश्चित अर्थ नहीं है उसे किसी भी रूप में तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है और अपनी रुचि के अनुसार भावाभिव्यक्ति की शक्ति से संचालित किया जा सकता है। आलोचना के क्षेत्र में फैली यह अराजकता वास्तव में हिंदी विकास पथ में सबसे बड़ी अवरोधक शक्ति के रूप में प्रवाहित हो रही है और आज के तथाकथित मठाधारी आलोचकों के हाथों यह प्राण संजीवनी प्राप्त कर रही है। इन मठाधारी आलोचकों ने अपने अलग-अलग वर्ग बना लिये हैं और अपने वर्ग से बाहर अथवा अपनी प्रचलित मान्यता एवं विचारधारा के प्रतिकूल विरोधी मान्यता एवं दृष्टिकोण रखने वाले लेखकों को लेखक ही नहीं समझा जाता। उन्हें लेखकीय दायित्व की अवहेलना करने वाले व्यक्ति की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। किसी लेखक की अच्छाई-बुराई और उसकी श्रेष्ठता का निर्णय आज इस आधार पर किया जाता है कि वह किस वर्ग अथवा स्कूल से सम्बन्ध रखता है और उस वर्ग अथवा स्कूल की सक्षमता कितनी है? प्रचार एवं प्रसार कितना है?

1—"But criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind) it obeys an instinct prompting to try to know the best that is known and thought in the world."

—मैथ्यू आर्नोल्ड: ऐसे इन क्रिटिसिज्म पृष्ठ १६

पर इस अराजकता की स्थिति से थोड़ा हट कर हमें तटस्थता की स्थिति में यह सोचना पड़ेगा कि हमारा आधुनिक साहित्य अधिक पुराना नहीं, मात्र अस्सी-नब्बे वर्ष पुराना ही है, जबकि विश्व का अन्य भागों में आधुनिक साहित्य इससे भी कहीं अधिक पूर्व अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रवेश कर चुका था। शताब्दियों पहले पाश्चात्य साहित्य में जिन प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं की स्थापना हो चुकी थी, उनका उत्थान और पतन वहाँ का साहित्य देख चुका था और आवश्यकतानुसार संशोधन-परिशोधन कर, अथवा समयानुकूल न होने पर सर्वथा नवीन धारणाओं को जन्म दे चुका था, वैसी स्थिति हमारे साहित्य की आज है। उन प्रेरणा एवं प्रवृत्तियों को आज के हिन्दी साहित्य में नवीनता एवं प्रयोग के नाम पर प्रविष्ट किया जा रहा है और उसके सम्बन्ध में फतवे दिये जा रहे हैं। हमारी कुछ ही रचनाएँ अभी ऐसी हैं, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की तुलना में प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में क्या आलोचना का दायित्व यह है कि वह मात्र एक अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर साहित्य विकास एवं निर्माण की प्रगति कुंठित कर उसे आत्म-प्रवंचना का शिकार बनाए ? मैं समझता हूँ आलोचना का ऐसी स्थिति में यह प्रमुख कार्य होना चाहिए कि प्रगतिशील जीवन मूल्यों को पूर्ण लेखकीय ईमानदारी के साथ मूर्त कलात्मकता से परिपूर्ण अभिव्यक्ति एवं प्राण प्रदान किए जाएँ। आलोचना की कुछ और भी परिभाषाएँ दी गई हैं[1] पर

1—(i) "Literary criticism cannot exist among the unself conscious primitives the undifferentiated state of their society makes it unnecessary. The criticism is direct and dumb and efficacious the valuation of the poet is expressed by the place he has voluntarily accorded in tribal society, the valuation of the poems by their repetition and survival."

—क्रिस्टोफर कॉडवेल : इल्युजन एण्ड रियल्टी, (१९५६), दिल्ली, पृष्ठ ४५

(ii) "Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which gave us sensations.

जो आलोचना दायित्व-विमुख होती है, वह आलोचना नहीं है। आलोचक और साहित्यकार-दोनों के ही ऊपर महान् उत्तरदायित्व है निर्माण का। इसका उद्देश्य विध्वंस का नहीं, निर्माण एवं दायित्व निर्वाह का है। इसे जीवन के उन प्रगतिशील तत्वों को चुन कर कला के माध्यम से प्रस्तुत करना है, जिससे मानव का खण्डित नहीं, पूर्ण व्यक्तित्व प्रकाश में आ सके। शोषण एवं दमन के वातावरणों से दूर समता एवं परस्पर सहानुभूति के विशिष्ट स्तर पर प्रगतिवादी तत्वों का आत्मसात कर अपनी आत्मा के विकास एवं चिरंतन सत्य की उपलब्धि की प्रेरणा प्राप्त हो सके। एक वर्ग या कैम्प के कोने में बैठ उसी कैम्प के भीतर से आलोचना करना या साहित्य सृजन की प्रक्रिया में दत्तचित्त होना प्रगतिशील साहित्य के लिए नितान्त रूप से भी लाभप्रद नहीं होगा। आलोचना का वास्तविक अर्थ होना चाहिए कि वह मूल्य-मर्यादा रहित साहित्य की उपेक्षा कर (चाहे वह जिस किसी भी द्वारा लिखा गया हो) श्रेष्ठ निर्माणोन्मुख एवं प्रगतिशील तत्वों को आत्मसात करने वाले साहित्य का उचित मूल्यांकन कर उसके रचनाकारों को उचित दिशा निर्देशन करे। कला का सत्य लेखक कहाँ तक प्राप्त कर सका है और

---

that is the art of criticism ...Art can find its alter ego in art."

—स्पिनगार्न : द न्यू क्रिटिसिज्म

(iii) "To criticise a work is to understand and to interpret as fully as possible, the urge of energy that produced it, to live again the stages of its development and partake of the impulses and intentions with which it is still pregnant."

—लुई कैजामियाँ : द डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिट्रेचर, पृष्ठ १३६

(iv) "If creative literature may be defined as an interpretation of life under the various forms of literary art, critical literature may be defined as an interpretation of that interpretation and of the forms of art through which it is given."

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (मार्च १९६०), पृष्ठ ६१

पाठकों के ऊपर कहाँ तक स्पष्ट कर सका है, इसे स्पष्ट करना आलोचना का अर्थ है। आलोचना का अर्थ आलोचक की अपनी रुचि नहीं, साहित्य की श्रेष्ठता एवं प्रगतिवादी मानदण्ड होना चाहिए। श्रेष्ठ आलोचक श्रेष्ठ कृतियों को श्रेष्ठ घोषित करने में कभी संकोच नहीं करते और न सीमित परिवेश में ही उसकी समीक्षा करते हैं—चाहे वह उन्हें रुचिकर प्रतीत हो या न हो।

आलोचना का उद्देश्य

आलोचना का सर्वप्रमुख उद्देश्य किसी कृति की विशेषताओं एवं उसके अभावों को संतुलित एवं तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करना तथा ऐसी स्थिति का निर्माण करना है, जिससे पाठकों की रुचि परिष्कृत होकर साहित्य निर्माण एवं विकास पथ की ओर दिशोन्मुख हो सके। साहित्य नवीन मानव मूल्यों की स्थापना कर एक शाश्वत सत्य की स्थापना में संलग्न होता है। आलोचना का उद्देश्य इस शाश्वत सत्य एवं मानव मूल्यों का अन्वेषण होता है। आलोचना मात्र आदर्श एवं यथार्थ का मूल्यांकन करने, भाषा-शैली एवं विषय वस्तु की समीक्षा करने अथवा अलंकार, रस एवं गुण आदि की व्याख्या तक ही सीमित नहीं है। इसका उद्देश्य साहित्य में उस व्यक्ति की खोज निकालना है जो सत्य से अभिभूत है और सहज मानवीय संवेदनाओं से ओतप्रोत है। उस मानव हृदय में, जिसमें मानव प्रेम, सहानुभूति, वात्सल्य एवं दायित्व निर्वाह की चेतना तथा एक दूसरे के दुःख-सुख समझने की शक्ति एवं अनुभवशीलता का संवेग संचारित होता रहता है और जो प्रत्येक श्रेष्ठ और निर्माण-विशेषता सम्पन्न साहित्य में केन्द्रीय रूप से अवस्थित रहता है, का स्पष्टीकरण करना आलोचना का ही उद्देश्य है। साहित्य का महती उद्देश्य है कि वह श्रेष्ठतम रूप में जीवन की व्याख्या करे। आलोचना का भी महती उद्देश्य है कि वह श्रेष्ठतम रूप में साहित्य द्वारा किए जाने वाले इस जीवन की व्याख्या की व्याख्या करे। सौन्दर्य के माध्यम से अनेकरूपता के वातावरण में एकरूपता की स्थिति उत्पन्न करना आलोचना का उद्देश्य है। आलोचना का उद्देश्य है कि वह किसी रचना में छिपे हुए सौन्दर्य-तत्वों का अन्वेषण करे और उन तत्वों को स्पष्ट करे जो मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं, सहज मानवीय संवेदनाओं को गौरव प्रदान करते हैं और शोषण एवं संहार जैसी प्रकृति की अवरोधक शक्तियों को समूल नष्ट करने के सराहनीय संकल्प से

उद्भूत होकर गतिशील होते हैं। आलोचना का उद्देश्य ऐसे साहित्य की प्रतिष्ठा करना है, जो मनुष्य जीवन की यथार्थताओं का ईमानदारी से चित्रण कर समाजवादी रचना-प्रक्रिया में योगदान देता है; आलोचना का उद्देश्य कटुता, प्रहार, छिद्रान्वेषण एवं आरोपण-प्रत्यारोपण नहीं है, दिशा निर्माण का है, सौन्दर्य एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा का है। मानव मूल्यों के विघटन को रोकने का है। जे० ई० स्पिनगार्न के अनुसार आलोचना का उद्देश्य किसी रचना में इस सत्य का अन्वेषण करना होता है कि वस्तुतः लेखक द्वारा कौन सा सत्य रचना के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है और उस सत्य की अभिव्यक्ति में उसे किस सीमा तक सफलता प्राप्त हुई है। वास्तव में आलोचना किसी कृति में कवि अथवा लेखक के उद्देश्यों का अन्वेषण करती है। इसे और भी उचित ढंग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि आलोचना के तीन प्रमुख उद्देश्य होते हैं:—

१ रचना (Creation)
२ व्याख्या (Interpretation)
३ निर्णय (Judgment)

कार्लाइल ने 'State of German Literature' में बताया है कि, "आलोचना प्रेरित और अप्रेरित के बीच में व्याख्याता का काम करती है, सिद्ध पुरुष और उसके ऐसे श्रोताओं के बीच में व्याख्या का काम करती है, जो उसके शब्दों की सुस्वरता सराहते हैं और उनके वास्तविक अर्थ की कुछ झलक पा जाते हैं, परन्तु उनका गहनतर अभिप्राय नहीं समझ पाते।"[1] कार्लाइल के इस पूरे कथन से तो सहमत होना कठिन है। हां इतना अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है कि आलोचना प्रेरित और अप्रेरित के बीच व्याख्याता का काम करती है। कॉलरिज के मतानुसार आलोचना का उद्देश्य मात्र इतना ही नहीं है कि जो कुछ लिखा गया है, उन पर निर्णय करने के लिए नियम-विधान बनाए। उसे लेखन सिद्धान्तों का निर्माण करना चाहिए।[2] पर यह उद्देश्य भी अधिक तर्क-संगत रूप में स्वीकार नहीं किया

१—लीलाधर गुप्त: पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, (१९५२), इलाहाबाद, पृष्ठ ९४-९५

2—"The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing ther to furnish rules to pass judgement on what has been written by others."
—कॉलरिज

जा सकता। क्या उपन्यासों की रचना सिद्धान्तों के दायरे में होती है ? क्या 'त्यागपत्र' लिखने के पूर्व जैनेन्द्रकुमार ने उपन्यास शिल्प का गहन अध्याय किया होगा और आत्मकथात्मक शैली की सूक्ष्मताओं की जांच की होगी ? क्या 'प्रियप्रवास' की रचना करने के पूर्व महाकवि हरिऔध ने महाकाव्य के 'नियमों' का अध्ययन किया होगा ? या और भी पहले क्या तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की रचना करने के पूर्व महाकाव्य के रचना सिद्धान्तों का मनन चिंतन किया होगा ? कबीर कहाँ के शोधार्थी थे ? दादूदयाल, सूरदास, मीरा किस स्कूल में पढ़े थे ? काव्यशास्त्र के किन ग्रन्थों का प्रणयन उन्होंने किया था ? किसी का नहीं। फिर क्या उनके द्वारा रचा गया साहित्य श्रेष्ठ नहीं है। निश्चित रूप से है। यदि कॉलरिज की मान्यता मान ली जाए, तो क्या इन कवियों के सन्दर्भ में आलोचना का उद्देश्य असफल हो गया है ? कॉलरिज यहीं भूल करते हैं, और यहीं उनकी मान्यता अपूर्ण सिद्ध हो जाती है। श्रेष्ठ साहित्य स्वयं ही सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं, आलोचना यह कार्य नहीं करती। श्रेष्ठ महाकाव्य में या उपन्यास में जिस शैली का प्रयोग किया जाता है, वही नियमों का रूप धारण कर लेते हैं। चेतना प्रवाह पद्धति का जन्म कैसे हुआ ? क्या आलोचना ने यह नियम बनाया था ? नहीं न ! फिर उसी प्रकार किसी को क्या पता कल उपन्यास लिखने की इससे भी नई कोई और शैली एक उपन्यासकार निकाले। असल में आलोचना का वास्तविक कार्य सौन्दर्यान्वेषण का है, नियम बनाने का नहीं।

आलोचना और साहित्य-सृष्टि

कॉलरिज की ही बात पर विचार करते-करते आलोचना के सर्वप्रमुख उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। वह यह कि साहित्य सृष्टि की प्रक्रिया में आलोचना का बहुत बड़ा हाथ होता है। जिस देश का आलोचना साहित्य जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा, वहाँ का साहित्य भी उतना ही समृद्ध और सुसम्पन्न होगा। श्रेष्ठ आलोचना कभी छिद्रान्वेषण के स्तर पर नहीं उतरती, वरन् वास्तविक साहित्य सृष्टि में योगदान करती है। एक उपन्यास लिखा जाता है उसमें हो सकता है कुछ कमियाँ रह गई हों। और उसकी विशेषताएँ इन कमियों के आगे तिरोहित जान पड़ती हों अब आलोचक, यदि वह निष्पक्ष है, तटस्थ है, सहानुभूतिपरक है, तो वह कभी नहीं कहेगा कि उपन्यास बेमतलब का है। उसमें कोई मूल्य नहीं है, वह कोरी बकवास

है और उपन्यासकार को उपन्यास लिखने से सन्यास ले लेना चाहिए, उसके बदले कोई और धन्धा करना चाहिए। आलोचक आलोच्य कृति के सौन्दर्य तत्वों का विश्लेषण करके उसके अभावों को स्पष्ट कर उनके निराकरण की दिशाएँ निर्मित करेगा। वह लेखक और आलोच्य कृति को ऐसे वातावरण में लायेगा, जहाँ लेखक अपनी कृति के अभावों को सत्यता के साथ निःसंकोच रूप से स्वीकार कर लेगा और भविष्य में उनके प्रति सजग रहने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार आलोचना साहित्यपथ में अवरोधक शक्ति के रूप में नहीं, साहित्य सृष्टि के मार्ग में गतिशीलता उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप में ही प्रकाश में आती है। आलोचना के माध्यम से ही आलोचक निष्पक्ष रूप से साहित्य के नवीन उपयोगी प्रतिमानों का स्वागत करते हैं और उनका पालन करने वाले लेखकों को उचित प्रोत्साहन प्राप्त होता है। आलोचना ही साहित्य के सौन्दर्य तत्वों को स्पष्ट कर, उनके आत्मसात किये जाने और उचित रूप में प्रयुक्त किये जाने पर बल देती है। आलोचना ही लेखक की उस जीवन-दृष्टि का श्रेष्ठतम रूप में स्वागत करती एवं पुष्ट बनाती है, जिसमें मूल्य मर्यादा रहित जीवन का तिरस्कार कर मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जाता है; समाजवादी रचना प्रक्रिया के तत्वों को प्रोत्साहन दिया जाता है तथा शोषण एवं असमानता के विरुद्ध असंतोष अभिव्यक्त करके उनके प्रति क्रांति की भावना को जन्म देने एवं विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है। आलोचना ही लेखक को उसके कर्म एवं दायित्व के प्रति सचेत करती रहती है और उसके ईमानदारी के साथ निर्वाह करने पर बल देती है और जब इन तत्वों का किसी साहित्य में समावेश होता है तो श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है।

इसी सन्दर्भ में आलोचना की ही कुछ सीमाओं पर विचार कर लेना चाहिए। आलोचक का कर्तव्य क्या होता है, इस पर तो आगे विस्तार से विचार किया जायेगा। यहाँ इस बात का ध्यान दिलाना आवश्यक है कि साहित्य सृष्टि के पथ को श्रेष्ठ रूप में आलोचना गतिशील तो करती है, पर आलोचना का काम किसी भी रूप में अन्तिम निर्णय देना नहीं है, बल्कि ऐसे वातावरण का निर्माण करना है, जिसमें श्रेष्ठ साहित्य का सृजन संभव हो सके। आलोचक किसी लेखक के भाग्य विधाता के रूप में नहीं आता, वरन उसके द्वारा स्थापित किए जाने वाले श्रेष्ठ मानव मूल्यों एवं सौन्दर्य तत्वों के शक्तिशाली समर्थक के रूप में आता है।

आलोचक का कर्त्तव्य

मैथ्यू आर्नाल्ड के अनुसार संस्कृति का स्रोत आलोचना है। आलोचक का प्रधान दायित्व यह है कि अपने गहन अध्ययन और चिन्तन को निरन्तर व्यापक एवं विस्तृत बनाये और संसार का सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करे। फिर उसका अपनी विचारधारा के अनुसार मनन एवं चिन्तन कर सृष्टि में उसका निरन्तर प्रसार करे। इस प्रकार आलोचक को पहले गहन् अध्ययन में दत्तचित्त होना चाहिए और उसका निष्कर्ष निकालना चाहिए। फिर इस निष्कर्ष को वह व्यापक धरातल पर प्रसारित करे और इसके उपरान्त रचनात्मक क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे। वह ऐसी विचारधारा का निर्माण कर उसका इस अंशों में प्रचार एवं प्रसार करे कि रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना और जीवन तत्व प्राप्त हों। एक अन्य आलोचक की धारणानुसार एक अच्छे आलोचक की तीन विशेषताएँ होनी चाहिए। उसमें अनुभव प्राप्त करने की क्षमता हो; अनुभवों को एक दूसरे से भिन्न करने की दक्षता हो और तीसरे यह कि मूल्यों का निर्णय करने की उसमें अपूर्वशक्ति हो।[१] एक अन्य विचारक के अनुसार आलोचक मूल्यों के सम्बन्ध में अपने विचारों का हनन नहीं कर सकता।[२] एक और विचारक के अनुसार व्यक्तित्व

१—"The qualifications of a good critic are three. He must be an adept at experiencing, without eccentricities, the state of mind revelant to the work art he is judging. Second'y he must be able to distinguish experiences from one another as regards their less uperficial features Thirdly, he must be a sound judge of values."

—आई० ए० रिचार्ड्स: प्रिंसिपुल्स ऑव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म (चौदहवां संस्करण १९५५), पृष्ठ ११४

2—"The critic cannot possibly avoid using some ideas about value : His whole occupation is an application and exercise of his ideas on the subject. and an avoidance of moral preoccupations or his part can only be either an abdication or a rejection under the title of morality of what he considers to be mistaken or dishonest ideas and methods."

—वही पृष्ठ ३५

तो जातीय, राष्ट्रीय आदि तत्वों का विशेष और असाधारण मिश्रण है और साहित्य समालोचक के लिए यह अनिवार्य है कि वह इन तत्वों का विश्लेषण करे।[1] वास्तव में आलोचक का सबसे बड़ा गुण यह होता है कि उसे अपने विषय की पूर्ण जानकारी हो। बिना इसके वह अपनी आलोचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। आलोचक का यह प्रधान कर्तव्य होता है कि वह पूर्वाग्रहों से मुक्त हो, दुराग्रहों की लालसा न हो और उसकी दृष्टि तटस्थ हो वह किसी भी वर्ग का हो, किसी भी मत में अपना विश्वास रखता हो, पर आलोचना करते समय उसे निष्पक्ष होना चाहिए। वह कलाकृति चाहे उसके वर्ग के सिद्धान्तों से मेल रखते हों या नहीं। आलोचक का कर्तव्य है कि वह किसी कलाकृति में अपने वर्ग के सिद्धान्तों का नहीं, सौन्दर्य तत्वों का तथा मूल्यों का अन्वेषण करे। आलोचक द्वारा निभाए गए उचित कर्तव्य से ही साहित्य समृद्ध होता है।

---

1 "The truth is that even if the individuality is unique it does not mean that it cannot be analysed. Individuality is a welding together of tribal national class temporary and institutional elements and in fact it is in the uniqueness of this welding together in the proportion of this prycho chemical mixture, that individuality is expressed. One of the most important tasks of criticism is to analyse the individuality of artist into its component element and to show this corelation."

—ट्रॉटस्की : लिट्रेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ ५९-६०

२

भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्त

पहले इसके कि आलोचना के प्रकारों का विवेचन किया जाय, भारतीय एवं पश्चिमी काव्यशास्त्र के उन प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कर लेना समीचीन होगा, जिन्होंने हिन्दी आलोचना पर अपना गहरा प्रभाव डाला है और उसके स्वरूप निर्धारण में अपना योगदान प्रदान किया है। यहाँ भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन संक्षेप में किया गया है। पश्चिमी काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन के सिद्धान्तों का विवेचन अगले प्रकरण में किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त ये हैं :—

१ रस सिद्धान्त
२ ध्वनि सिद्धान्त
३ अलंकार सिद्धान्त
४ रीति सिद्धान्त
५ वक्रोक्ति सिद्धान्त

रस सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक भरतमुनि हुए हैं। उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र में एक सूत्र भर दे दिया था: 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। स्वयं भरत ने इसका कहीं विस्तार से विवेचन नहीं किया है और इस सूत्र को यों ही छोड़ दिया था। उसने यह नहीं स्पष्ट किया कि संयोग से उसका आशय क्या था। उसका स्वरूप क्या होता है और वह किस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। फिर निष्पत्ति से ही क्या अभिप्राय होना चाहिए। भरत ने इतना अवश्य कहा था कि रस के अभाव में भाव का प्रवर्तन नहीं होता। इससे रस का महत्व तो उन्होंने प्रतिपादित कर दिया, पर उनका

सूत्र स्पष्ट नहीं हुआ। इसे लेकर काफी वाद-विवाद हुआ और उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है।

भरत सूत्र का पहला व्याख्याकार भट्ट लोल्लट है। उसका रस सम्बन्धी सिद्धान्त उत्पत्तिवाद के नाम से विख्यात है। उनके ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं चल सका है। 'अभिनवभारती' में अभिनव गुप्त ने इनके मतों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार 'विभावादि का स्थायी भाव से संयोग होने पर रस निष्पत्ति होती है। विभाव रस के कारण स्वरूप हैं। इनके द्वारा स्थायी भाव की 'उपचित' अवस्था का नाम रस है। यह रस मूलतः अनुकार्य अर्थात् रामादिक ऐतिहासिक पात्रों में ही होता है, किन्तु उनके रूपादिक के अनुसन्धान से अनुकर्ता-नट में भी विद्यमान होता है, (अ०भा०पृ०२७४)। यद्यपि उसने स्पष्ट रूप से सामाजिक के आनंद को अस्वीकृत नहीं किया है, किन्तु उसके साथ ही यह भी कहा है कि नायक-नायिका ही रस का वास्तविक आस्वादन करते हैं। सामाजिक के हृदय में तो नट-नटी के माध्यम से ही उनके रस की प्रतीति करके रस की सृष्टि होती है। भट्ट लोल्लट ने यह स्पष्ट नहीं किया कि ये ऐतहासिक पात्र कौन हैं? नायक-नायिका से उसका आशय क्या है? फिर नट-नटी का उनसे क्या सम्बन्ध है? दूसरों द्वारा रसानुभव किए जाने से सामाजिक कैसे आखिर रस की प्रतीति कर सकता है? भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त की इसी आधार पर आलोचना हुई है। भरत सूत्र का दूसरा व्याख्याकार शंकुक हुआ है। उसने भट्ट लोल्लट के सिद्धान्तों का विरोध किया और यह प्रतिपादित किया कि निष्पत्ति का अर्थ अनुमति होना चाहिए। रस उत्पन्न नहीं होता वरन् अनुमित होता है। उनके अनुसार 'विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर वास्तविक रामादिगत स्थायीभाव, अनुमान के बल से अनुकरण रूप में अनुकर्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान होता है। विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभवों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारी भावों का अनुभव ज्ञान के द्वारा अनुसन्धान (अर्थ प्रतीति) होता है। स्थायी भाव की अर्थ प्रतीति काव्य द्वारा नहीं की जा सकती। (अ०भा०पृ०२७४)। परन्तु केवल अनुमान के माध्यम से रस प्रतीति होती है, यह सोचना पूर्णतया असंगत है, तर्कहीन है। इसके तीसरे व्याख्याकार हुए हैं, भट्ट नायक, जिनका सिद्धान्त भोगवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनका सिद्धान्त इस प्रकार है, "काव्य में दोषाभाव, गुण तथा अलंकार स्वरूप और नाटक में

चतुर्विध अभिनयरूप विभावादि कारण के द्वारा अभिधर्थं से ग्रहण कियेगये निविड निजत्व का मोह तथा संकट आदि को निवारण करने वाली भावकत्व रूप में शब्द की दूसरी शक्ति साधारणीकरण तथा अपने भावन व्यापार से इस निजत्व के मोह को दूर करके रस को भावनावान् करती है और भावन योग्य बनाती है।"(अ०भा०पृष्ठ २७८)। इस प्रकार भट्ट नायक ने रस की स्थिति हृदय में मानी है। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त बड़ा ही महत्व-पूर्ण है। भरत सूत्र के चौथे व्याख्याकार अभिनवगुप्त हैं। उनका सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद है। अभिनवगुप्त ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि, "मानव-आत्मा शाश्वत है सभी आत्माओं में विशेषकर सहृदयों की आत्माओं में स्वभाव से ही सांसारिक अनुभव पूर्वजन्य अथवा पठन-पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ संस्कार रूप में रहती है। ये वासनाएं ही पारिभाषिक शब्दावली में स्थायी भाव कहलाती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त वासनाएं या स्थायीभाव ही उद्बुद्ध होकर रसरूप में परिणत हो जाते हैं। अभिनव वास्तव में आभासवादी वेदान्ती हैं जो वस्तु की स्थिति न मानकर केवल चिदानन्द ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते है। विदेश में हीगल, ह्यूम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धान्त है। वे भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते है विषयगत नहीं। (डा०नगेन्द्र-रीतिकाव्य की भूमिका) आज अधिकांश रूप में अभिनव गुप्त का सिद्धान्त ही मान्य है क्योंकि प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण एवं संगत है। रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में होती है वस्तु में नहीं।

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन हैं, उसने काव्य की आत्मा ध्वनि स्वीकार की है। उनके पूर्ववर्ती विचारकों का भी मत इसी प्रकार का था :

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः

—ध्वन्यालोक १,१

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त ने यह प्रतिपादित किया कि काव्य की आत्मा कुछ और नहीं ध्वनि है। काव्य में मुख्यतः व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य होता है। व्यंग्यार्थ के महत्व की दृष्टि से काव्य का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया जा सकता है : उत्तम अथवा ध्वनि काव्य; मध्यम अथवा

गुणीभूत व्यंग्य काव्य; और अधम अथवा चित्र काव्य। ध्वनि की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं : वस्तु ध्वनि; अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि। ध्वनि सिद्धान्त की वास्तविक प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोट से प्राप्त हुई थी। प्रश्न उठता है, स्फोट क्या है? जिसके द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति हो, वही स्फोट है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट' स्फोट और ध्वनि का व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया कि काव्य में केवल वाच्यार्थ काव्यगत मूल सौन्दर्य से परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता। व्यंग्यार्थ ही वास्तव में काव्य का उचित अर्थ अभिव्यक्त कर सकता है। काव्य में पहले वाच्यार्थ ही स्पष्ट हो जाता है, फिर व्यंजना का बोध होता है। काव्य का वास्तविक अर्थ न तो अभिधा शब्द शक्ति प्रकट कर सकती है और न लक्षणा शब्द शक्ति। इसे तो केवल व्यंजना ही स्पष्ट कर सकती है। व्यंजना के स्पष्टीकरण करने के बाद जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसी में काव्य सौन्दर्य अन्तर्निहित रहता है। ध्वनि सिद्धान्त मूलरूप से शब्दशक्तियों पर आधारित है। अनेक आचार्यों ने शब्दशक्ति पर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है और प्रायः सभी ने अभिधा एवं लक्षणा नामक शब्द शक्तियों की तुलना में व्यंजना शक्ति की महत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ध्वन्याचार्यों ने ध्वनि काव्य के दो प्रधान वर्ग बनाये हैं : अविवक्षित वाच्य ध्वनि। यह लक्षणा पर आधारित है। दूसरा वर्ग है विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि, जो अभिधा पर आधारित है। अविवक्षित वाच्य-ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती है तथा वाच्यार्थ पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है या फिर उसका दूसरे अर्थ में संक्रमण हो जाता है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में मुख्यार्थ की विवक्षा होती है। इसमें वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करता है। इसके दो भेद होते हैं। ध्वनि के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद चार हैं : अर्थान्तर संक्रमित; अत्यन्ततिरस्कृत; असंलक्ष्य तथा संलक्ष्य। बाद में इसके और भी भेदोपभेद होते हैं। तीन प्रकार की व्यंजनाओं में आनन्दवर्धन ने रस ध्वनि को महत्त्व प्रदान किया है, क्योंकि रस ध्वनि अंगी है। ध्वनि का दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है।

अलंकार सिद्धान्त

अलंकार सिद्धान्त का सूत्रपात भामह ने किया। उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के लिए अलंकारों के प्रयोग को आवश्यक बताया है। भामह ने अलंकारों को काव्य की आत्मा कहा और वक्रोक्ति को अलंकारों का प्राण बताया है :

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।

भामह ने यह भी माना है कि शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम अलंकार है :

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः ।

दण्डी ने भी अलंकारों के महत्व पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है और उन्हें काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म के रूप में स्वीकार किया है। उसने अलंकार को काव्य का सहज गुण माना और यह प्रतिपादित किया कि अलंकारों पर ही काव्य सौन्दर्य एवं शोभा आधारित होते हैं :

काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।

वामन ने अलंकार के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट करते हुए यह बताया है कि काव्य अलंकारों के द्वारा ही ग्रहण करने योग्य बनता है और सौन्दर्य कुछ और नहीं अलंकार ही है :

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः

रुद्रट ने भी अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है :

अभिधान प्रकार विशेषा एवचालंकाराः

यदि इन अलंकारवादियों की परिभाषा पर विचार किया जाए, तो एक बात सामान्य प्राप्त होगी और वह यह कि इन सभी आचार्यों ने काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध कर अलंकार को काव्य की आत्मा बताया है। कालक्रम के अनुसार जिस प्रकार अलंकारों की संख्या परिवर्तित होती गई, उसी प्रकार अलंकार के स्वरूप भी परिवर्तित होते गये हैं। भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का प्राण माना है। उनके विचार से वक्रार्थ की विधायक शब्दोक्ति ही अलंकार है। इसके अभाव में अलंकार की स्थिति हो ही नहीं सकती। वामन ने इसे अर्थालंकार और रुद्रट ने शब्दालंकार की संज्ञा दी है। अलंकार सिद्धान्त के अधिकांश आचार्यों ने अलंकारों की संख्या एवं परिभाषा पर ही विचार किया है और उसी दृष्टि से उसका विवेचन भी किया है। यह विवेचन पूर्णतया मौलिक होते हुए भी एकांगी है क्योंकि इन आचार्यों ने इस बात की ओर विचार करने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं किया है कि काव्य पर अलंकारों का प्रभाव किस भाँति पड़ता है और उनके प्रयोग से काव्य सौन्दर्य की गति में किस सीमा तक परिवर्तन हो जाता है।

अलंकारों के वर्गीकरण का तर्कसंगत वैज्ञानिक रूप सर्वप्रथम् रुद्रट के 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है अलंकारवादी आचार्यों ने रस की भिन्न स्थिति नहीं स्वीकार की है, वरन् उसे काव्य के प्रभूत अलंकार का एक रूप स्वीकार किया है। उन्होंने रस और भाव के समस्त विषय को समाविष्ट कर दिया है। भामह ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शृंगार आदि रसों की प्रतीति जहाँ स्पष्टतया होती है, वहाँ रसवत अलंकार की कल्पना नहीं की जा सकती। दण्डी, उद्भट और रुद्रट ने काव्य में रस को नहीं स्वीकृत किया है। उन्होंने उसे अलंकारों में ही समाहित कर एक अलंकार प्रकार बना दिया है। अलंकारवादी आचार्यों ने यह भी स्वीकार किया है कि काव्य में प्रतीयमान अर्थों का विशेष महत्व होता है। यद्यपि इन्होंने ध्वनि और प्रतीयमान अर्थों को काव्य का मूल तत्व नहीं स्वीकार किया है। काव्य में अलंकारों का निस्सन्देह महत्व होता है। यही कारण है कि उसके प्रयोग में आज भी कोई कमी नहीं हुई है। केशव ने रीति काल में इसकी विशेष महत्ता स्वीकार की थी। जयदेव ने भी इसका समर्थन किया था। रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है : "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।' सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार, "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं। पृथक स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र है सत्य तो यह है कि अलंकार केवल काव्य सौन्दर्य ही नहीं बढ़ाते, भावानुभूति की तीव्रता भी बढ़ाते हैं।"

रीति सिद्धान्त

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। अलंकार सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप ही रीति सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ था। उन्होंने अलंकार-वादियों के मत का खण्डन करते हुए रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उन्होंने पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति माना।

विशिष्ट पद रचना रीतिः

उन्होंने इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया कि पदों में यह विशेषता गुणों के कारण ही उत्पन्न होती है। रीति क्या है ? उत्तर है कि प्रत्येक कवि

या कलाकार अपने भावों को अपने ढंग से अभिव्यक्त करता है। विषयों को प्रतिपादित करने का ढंग भी उसका अपना होता है ; यही रीति है। किसी की रीति विशेष होती है, किसी की सामान्य। दण्डी के अनुसार रीतियों की संख्या असंख्य है और उनमें भेद करना दुःसाध्य कार्य है। मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि जितने कवि या कलाकार होते हैं उतनी ही रीतियाँ होती हैं। वामन ने गुणों का अर्थ यह लिया था कि वे काव्य को शोभित करने वाले धर्म होते हैं। काव्योत्कर्ष के प्रधान साधक उनके विचार से अलंकार नहीं गुण होते हैं। यही गुण अलंकारों को भी तीव्रता प्रदान करते हैं। गुण युक्त रचना ही काव्य पद की अधिकारिणी हो सकती है, कुछ और नहीं :

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणः तदति शयहेतवस्त्वलंकाराः।

कुन्तक ने रीति को मार्ग कहा है और इसका आधार देश नहीं अपितु कवि स्वभाव बताया है। भामह और दण्डी आदि ने रीति का देशों से सम्बन्धित रूप में वर्णन किया है। विश्वनाथ ने रीति को रसोपकारक रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने इसे शैली के रूप में ग्रहण किया है। आनन्दवर्धन और मम्मट ने रीति के नियामक तत्वों में वक्ता, वाच्य, विषय और रस की अनुकूलता अथवा औचित्य का नाम लिया है। चिन्तामणि ने 'कवि कल्पतरु' में रीति को काव्य का स्वभाव स्वीकार किया है। देव ने रीति को काव्य का द्वार माना है। रीति के प्रमुख रूप से पाँच भेद किये गये हैं: वैदर्भी रीति; गौड़ी रीति; पांचाली रीति; लाटी रीति; पंचालिका रीति। वैदर्भी रीति की विलक्षण आभा है। रुद्रट और राजशेखर ने वैदर्भी को समासरहित शैली माना है। सभी आचार्यों ने इसे सर्वोत्तम रीति माना है। गौड़ी रीति ओजपूर्ण शैली है। पांचाली रीति में माधुर्य एवं सुकुमारता के गुण होते हैं। इसका उल्लेख भामह और दण्डी ने नहीं किया है। इसका उल्लेख करने वाले प्रथम आचार्य वामन हैं। लाटी का उल्लेख केवल रुद्रट ने किया है। उनके विचार से उग्र रसों के वर्णन के लिए यह रीति सर्वाधिक उपयुक्त है। पंचालिका रीति की विशेषताएँ स्पष्ट करते हुए राजशेखर ने कहा है कि यह शब्दार्थ का समान संघटन करने वाली समन्वयपूर्ण रीति है। रीति सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण न सिद्ध हो सका। उसका प्रभाव एक प्रकार से अल्पकालीन ही सिद्ध हुआ। ध्वनि सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त और रस सिद्धान्तों की पूर्ण

प्रतिष्ठा हो जाने के उपरान्त रीति सिद्धान्त महत्वशून्य हो गया और धीरे-धीरे उसकी चर्चा एवं व्याख्या भी कम होने लगी।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हुए हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। उन्होंने केवल शब्द या अर्थ को काव्य न मान कर दोनों के समन्वय को काव्य स्वीकार किया है:

शब्दार्थौ काव्यवाचकौ वाच्यम् चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।
तैन यत्केषांचिन्मतं''' शब्द एव केवलं काव्यमिति केषांचित्
वाच्यमेव ''''पक्षद्वयमपिनिरस्तं भवति।

कुन्तक ने अपने पूर्व के अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि सिद्धान्तों की उपेक्षा कर वक्रोक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना अत्यन्त सशक्तता से करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार कर वर्ण-चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि को उचित स्थान प्रदान करने का मौलिक प्रयास किया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति कवि व्यापार एवं कवि कौशल है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में अलंकारों के कल्पना-वैचित्र्य को अधिक व्यापक परिवेश में स्वीकार किया गया है। वक्रोक्ति की कल्पना काव्यनिष्ठ है एवं दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है। कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का प्राण रस माना है और इस प्रकार उन्होंने कल्पना के साथ भावना को भी महत्ता स्वीकार की है।

३

पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्त

पिछले प्रकरण में उन भारतीय काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का विवेचन किया गया है, जिन्होंने हिन्दी समालोचना के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान ही नहीं प्रदान किया है, वरन् उन पर घनिष्ट रूप से प्रभाव भी डाला है। यहाँ पश्चिमी काव्यशास्त्र के कुछ उन प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा, जिन्होंने भारतीय काव्यशास्त्रीय मान्यताओं की ही भाँति आधुनिक काल में हिन्दी समालोचना पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :—

१ अरस्तू का अनुकृति सिद्धान्त
२ लांजाइनस का उदात्तता सिद्धान्त
३ टॉलस्टॉय का आदर्शवादी सिद्धान्त
४ क्रोचे का अभिव्यंजनावाद
५ टी० यस० इलियट का अव्यक्तिवाद
६ आई० ए० रिचार्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद
७ फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद
८ मार्क्सवाद

अनुकृति सिद्धान्त

अरस्तू ने काव्य को कला की श्रेणी में रखा है उसे अनुकरणमूलक कहा है। वह यह मानता है कि काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन होता है। उसने काव्य के रूप पक्ष को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है और यह कहा है कि काव्य अथवा कला का एक ही मूल तत्व होता है, वह है अनुकरण। वस्तुतः काव्य अथवा कला की मूल भित्ति ही अनुकरण है। उसने कवि व्यक्तित्व, काव्य विषय, माध्यम तथा रीति के आधार पर कला या काव्य का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है और

काव्य के रूप पक्ष एवं उसके विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। उसने काव्य शास्त्र में ट्रेजेडी, कॉमेडी और महाकाव्य आदि काव्य रूपों का विवेचन सैद्धांतिक रूप में किया है और ट्रेजेडी को अन्य काव्य रूपों में श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। काव्य के रूप पक्ष के प्रति अधिक आग्रहशील होने के कारण अरस्तू ने चरित्र की अपेक्षा कथावस्तु को अधिक महत्व प्रदान किया है। वह यहीं नहीं रुका है, बल्कि एक कदम और आगे बढ़कर उसने ट्रेजेडी में कथावस्तु को उसकी आत्मा तक घोषित कर दिया है। अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों का निर्माण प्रमुख रूप से ट्रेजेडी के ऊपर ही आधारित है, क्योंकि उसने उसे ही श्रेष्ठ काव्य रूप स्वीकार किया है। उसने काव्य को विशेष के माध्यम से सामान्य की अभिव्यक्ति मानी है, इसीलिए उसने साहित्य से जीवन का वस्तुपरक चित्रांकन स्वीकार किया है। उसने काव्य का स्वरूप मूर्त तथा व्यक्ति स्तर का स्वीकार किया है। अरस्तू ने यद्यपि प्रतिभा का महत्व स्वीकार किया है, फिर भी वह व्युत्पत्ति के प्रति अधिक आग्रहशील है। उसने प्रतिभा के स्वरूप के विषय में दैवीक या अलौकिक मत को अस्वीकृत किया है और काव्य स्वरूप तथा कवि स्वभाव में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया है।

अरस्तू काव्य का उद्देश्य ज्ञानोपलब्धि तथा आनन्द मान कर बढ़ता है और काव्य की सृजन प्रक्रिया में छन्द को अनिवार्य माध्यम नहीं मानता। उसने मनोवेगों के सम्बन्ध में तीन बातें कही हैं: मनोवेग की उद्भवकालीन मनःस्थिति; वह व्यक्ति या वस्तु, जिसके प्रति मनोवेग का उद्भव होता है; और मनोवेग की आधार भूमि। इस प्रकार उसने काव्यानन्द को सार्वभौम कोटि का स्वीकार किया है। उसके अनुसार काव्यानन्द में राग तत्व की मात्रा न्यून होती है और बुद्धि तत्व तथा कल्पना तत्व की अधिकता होती है।[1] अरस्तू के पहले प्लेटो ने यह दार्शनिक प्रश्न उठाया था कि कविता अनुकृति की अनुकृति है और इसीलिए वह वास्तविकता से परे होती है। दूसरे शब्दों में अनुकृति होने के कारण कविता अयथार्थ होती है। अरस्तू ने इस प्रश्न को और भी व्यापक रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। प्लेटो अरस्तू का गुरु था। अतः अपने गुरु की बात को उसने सीधे-सीधे अस्वीकार तो नहीं किया।

---

१ एस० एच० बूचर : अनुवादित—द पोइटिक्स ऑव एरिस्टॉटिल, पृष्ठ १-११०

पर यह अवश्य कहा है कि 'प्रत्येक प्रकार का काव्य अनुकृति मूलक होता है, चाहे वह महाकाव्य हो, ट्रेजेडी हो, कॉमिडी हो या प्रगीतात्मक हो। प्रो० बूचर के शब्दों में 'अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय किसी सत्य विचार के अनुसार सृष्टि करना ही था।' अरस्तू के अनुसार सामान्यतः कविता दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इन दोनों की ही जड़ें हमारे स्वभाव में गहरी हैं। पहला-अनुकरण की सहज वृत्ति है; दूसरी वृत्ति है सामंजस्य और लय की—छन्द भी स्पष्टतः ही लय के अनुभाग होते हैं। इसीलिए जो इस सहज शक्ति से सम्पन्न थे उन्होंने धीरे-धीरे अपने विशिष्ट प्रवृत्तियों का विकास कर लिया अन्त में उनकी भौंडी आशु रचनाओं से ही कविता का जन्म हुआ।[१] अरस्तू की इन स्थापनाओं का अत्यधिक महत्व है। ये सिद्धान्त पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार हैं। उसने प्रोतगोरस, हिप्पिअस, देमोक्रितुस, अरिस्तोफेनस तथा प्लेटो आदि विद्वानों के काव्य शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया था और उनके सिद्धान्तों के अभावों के प्रकाश में अपने अनुकृति सिद्धान्त का निर्माण किया था। वास्तव में वह काव्य को रूढ़िमुक्त बनाना चाहता था। उसने विरेचन सिद्धान्त (Catharsis) का प्रतिपादन कर काव्यशास्त्र को एक सर्वथा नवीन उपलब्धि प्रदान की थी। विरेचन सिद्धान्त के द्वारा उसने कला के उदात्त प्रभाव पर विचार प्रकट किया और ट्रेजेडी आस्वादन के साधक तत्वों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। विरेचन सिद्धान्त में भय एवं करुण भावों के अतिशय उत्तेजन द्वारा उन मनोवेगों का शमन किया जाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त इस के अभावात्मक पक्ष को लेकर चलता है। पश्चिमी काव्यशास्त्र के विकास में अरस्तू के सिद्धान्तों की महत्वपूर्ण देन है। हिन्दी के प्रायः सैद्धांतिक समीक्षा करने वाले सभी आलोचकों ने कुछ कमो-वेश अरस्तू के इन सिद्धान्तों से प्रभाव ग्रहण किया है।

उदात्तता का सिद्धान्त

यूनानी काव्य शास्त्र में अरस्तू के बाद लांजाइनस का विशेष महत्व है। उसकी मान्यताओं के आधार पर ही उदात्तता का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। लांजाइनस ने भावक के मन पर पड़ने वाले काव्यानन्द के प्रभाव

१ डॉ० नगेन्द्र : सम्पादित—पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परंपरा, पृष्ठ २७

का गहरा अध्ययन किया है और आनन्द[illegible] पर प्रकाश डाला है। उसने स्वीकार किया है कि हर प्रभाव अपने आप में मूल्यवान नहीं होता। अतः साहित्य का मूल्यांकन इस आधार पर होना चाहिए कि किसी रचना के अध्ययन के पश्चात् पाठक आनन्दानुभूति का अनुभव करता है या नहीं। यदि वह आनन्दानुभूति का अनुभव करता है, तब तो वह मूल्यवान है, क्योंकि लांजाइनस ने यह माना है कि भावविचारों में जब तक महानता या उदात्तता न होगी वह भावक को आनन्दानुभूति में तल्लीन नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में काव्यानुभूति का सम्बन्ध लांजाइनस ने मानव की उच्चतम प्रवृत्तियों से सम्बद्ध कर दिया है। लांजाइनस का कहना है कि एक ही काव्य के विषय में भिन्न आदत, जीवन, महत्वाकांक्षा और युग के लोग समान दृष्टि रखते हैं।[1] उसने कल्पना को मानव प्रेरित माना है और कल्पना का कविता में प्रमुख उद्देश्य शक्ति सम्पन्नता उत्पन्न करना, मूर्ति विधान का सृजन करना तथा वस्तु, भाव एवं विचारों को स्पष्ट करना सिद्ध किया है। उसने काव्य में भावना तत्व तथा कल्पना तत्व की महत्ता बराबर-बराबर स्वीकार की है। लांजाइनस ने यह प्रतिपादित किया कि कविता की महानता मात्र आनंद 'रमणीयता' हृदय अथवा बुद्धि पर पड़े हुए प्रभावों पर ही नहीं आश्रित होती, अपितु उस शक्ति पर आश्रित होती है, जो भावक के समूचे व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती है।

लांजाइनस के अनुसार अच्छी कविता वही होती है जिसमें रमणीयता होती है और मन में भावनाओं को उत्पन्न करने की समर्थता होती है। उसने काव्य के कलापक्ष (अलंकार, गुण, रीति आदि) का स्रोत भावावेग माना है। उसके अनुसार काव्य विषय केवल भव्य तथा असाधारण वस्तुएँ ही उपयुक्त हो सकती हैं। मार्मिक काव्य दृष्टि वही है जो असामान्य, भव्य एवं असाधारण वस्तुओं में चमत्कार का अन्वेषण कर सकती है। वह कविता को अलौकिक तथा दैवी मान कर आध्यात्मिक धरातल पर अधिष्ठित करता है। वह कवि की अनुभूतियों को भी दैवी एवं अलौकिक मानने लगता है।

1 "For when men of different habits, lives, ambitions, ages take one and the same view about the same writing."

—ए० ओ० प्रिकार्ड : अनुवादित-लांजाइनस ऑन द सब्लाइम, (६ठा सं०) पृष्ठ १२

उसने स्वीकार किया है कि मनुष्य के सामान्य जीवन का सत्य ही 'उदात्त' का भी सत्य है। उसने उदात्त भाषा के पाँच प्रधान स्रोत माने हैं जिनमें वक्तृत्व शक्ति की प्रतिष्ठा होती है। ये पांच तत्व हैं—विचार प्रकट करने की समर्थता; प्रेरणा प्रसूत एवं उद्दाम आवेग; समुचित अलंकार योजना; साधु भाषा ; तथा गौरवपूर्ण रचना-विधान। इनमें प्रथम दो तत्व तो नैसर्गिक हैं, शेष तीन कला की निष्पत्ति हैं। अलंकारों के उचित प्रयोग से उदात्त की प्रतिष्ठता में योगदान प्राप्त होता है, अतः अभिव्यक्ति के अलंकार तथा उदात्त के स्पर्श और मनोहारी काव्य प्रसाधन जहाँ एक ओर प्रभविष्णु रचना के लिए अनुकूल होते हैं वहीं दूसरी ओर ये तत्व केवल सफलता का ही नहीं वरन् विफलता की भी नींव और आधारभूत कारण होते हैं। वैविध्य, अतिशयोक्ति और बहुवचन के प्रयोग के विषय में भी बहुत कुछ यही सत्य है। 'उदात्त' सिद्धि के मार्ग में जो दोष अवरोध पैदा करते हैं उनके निवारण के साधन और उपाय ढूँढ़ना हमारे लिए आवश्यक है।'[1] भाषा की खण्डित एवं क्षुद्र गति 'उदात्त' को हानि पहुँचाती है। 'उदात्त' को हानि पहुँचाने वाला दूसरा तत्व अभिव्यक्ति की अतिशय संहृति भी है, क्योंकि यदि किसी विचार को अत्यन्त सीमित परिवेश में आबद्ध कर दिया जाय तो उसकी भव्यता एवं असाधारणता समाप्त हो जाती है। कोई भी लेखक लांजाइनस की धारणानुसार, तभी महान् एवं श्रेष्ठ हो सकता है जब उसमें औदात्य का गुण हो। ऐसी स्थिति में औदात्य गुण-सम्पन्न लेखक की रचना स्वयंमेव आनन्दोपलब्धि प्रदान करती है। लांजाइनस ने यह माना है कि रचना में उदात्त तत्वों का समावेश तभी होता है, जब उसके रचनाकार के विचार महान् एवं व्यापक परिवेश पर निर्मित होते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त

महान् उपान्यासकार और आलोचक टॉलस्टॉय 'कला- कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे। इसी के विरोध में उन्होंने आदर्शवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। टॉलस्टॉय के अनुसार कला वह माध्यम है, जिसके अनुसार कलाकार अपनी अनुभूत भावनाओं के द्वारा दूसरों को प्रभावित करता है। यदि वह किसी को प्रभावित करने में असमर्थ है, तो उसकी रचना

---

१ डॉ० नगेन्द्रः सम्पादित—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृष्ठ ५८

कला का स्वरूप नहीं हो सकती और न ही वह कलाकार श्रेष्ठ पद का ही अधिकारी हो सकता है।[1] कोई भी कलाकृति किसी न किसी नवीनता की अभिव्यक्ति करती है और अनिवार्यः उसमें वस्तु रूप-विधान और सत्यता के तत्वों का समावेश हो ही जाता है। एक कलाकृति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि कलाकार उन भावनाओं को जितना अनुभव उसने स्वयं किया था और जिससे प्रेरित होकर उसने कलाकृति का सृजन किया था, अपने सहृदय पाठकों तक भी उसी रूप में पहुँचा सके, तभी उसके द्वारा अनुभव किये जाने वाला भाव वास्तविक रूप से मूर्तिमत्त हो सकते हैं। अपने भावों की प्रेषणीयता के पश्चात् श्रेष्ठ कलाकार सदैव ही स्वर्गीय आनंद का अनुभव करता है और उसे अपनी कलाकृति की सफलता पर संतोष होता है। टॉलस्टॉय के अनुसार यही विशेषता कला को अन्य क्रियाओं से भिन्नता प्रदान करती है। कला के मूल्यांकन के सम्बन्ध में उसने तीन श्रेणियाँ बनाई हैं : वे जिनमें वस्तु तत्व एवं सौन्दर्य के सद्भाव तथा निष्ठा की न्यूनता है; वे जिनमें वस्तु तत्व का सद्भाव तो है किन्तु निष्ठा एवं सौन्दर्य की न्यूनता है तथा वे जिनमें वस्तुत्व की न्यूनता होते हुए भी सौन्दर्य एवं निष्ठा है। इसी आधार पर और भी वर्ग बनाये जा सकते हैं तथा कलाकार एवं उसकी कलाकृतियों का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इन तीनों आधारों के प्रकाश में किया जाने वाला मूल्यांकन ही वास्तविक एवं तर्क-संगत होता है। कला वास्तव में आनंद का एक साधन नहीं, वरन् मानव जीवन का एक तत्व है। वह मानवीय जीवन से घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित है। भाषा की भाँति कला भी मानव विचारों एवं अनुभवों का प्रेषण करती है तथा उनके संगठन के माध्यम का कार्य करती है। इस प्रकार कला वस्तुतः पूर्ण रूप से मानवीय प्रक्रिया है।

---

1 "To evoke in oneself a sensation which one has experienced [illegible] and before evoked it in oneself, to communicate this sensation in such a way that others may experience the same sensation .. so that other men are infected by these sensations and pass through them, in this does the activity or art consists."

—टॉलस्टॉय : व्हाट इज़ आर्ट

टॉलस्टॉय ने साहित्य का आधार धर्म माना है। पर उसने यह भी स्वीकार किया है कि कला "न ईश्वर की रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति है, न वह ऐसी क्रीड़ा है जिसमें मनुष्य अपनी संचित शक्ति के अतिरेक का उत्सर्ग करता है; न वह केवल आनंद है जैसा कि विभिन्न विचारधाराओं के लोग कहते हैं।" उसने कला को अत्यधिक महत्ता प्रदान की है और यहाँ तक कह दिया है कि कला मनुष्यों के बीच एकता की स्थापना करती है। 'हमें भवनों, मूर्तियों, कविताओं और उपन्यासों को और उनके साथ ही जो कुछ हम रंगशाला में, संगीत सम्मेलनों और प्रदर्शिनियों आदि में सुनते तथा देखते हैं केवल उन्हें ही कला समझने की आदत पड़ गई है। लेकिन यह सब तो उस कला का अल्पतम अंश हैं, जिसके द्वारा जीवन में हमारा पारस्परिक व्यवहार चलता है। सम्पूर्ण मानव जीवन विविध प्रकार की कलाओं से ओत-प्रोत है—लोरी, हास्य, स्वांग, घरों की सजावट, वेशभूषा और बर्तनों से लेकर गिरजे की प्रार्थनाओं, भवनों, स्मारकों तथा विजय यात्राओं तक—यह सब कलात्मक क्रियाएँ हैं। अतः संकुचित अर्थ में कला द्वारा हम भावनाओं का संप्रेषण करने वाली मानवीय क्रियाओं का अर्थ नहीं लेते, किन्तु केवल उसी अंश का अर्थ लेते हैं, जिसे हम किसी कारण से उसमें से चुन लेते हैं और जिसे हम विशिष्ट महत्व प्रदान करते हैं।'[1] टॉलस्टॉय के इन आदर्शवादी सिद्धान्तों ने पाश्चात्य समालोचना के क्षेत्र में नए क्रान्तिकारी विचारों का आविर्भाव किया और कला को रूढ़मुक्त कर उसे मानव जीवन से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया जाने लगा। इससे 'कला कला के लिए' मानने वाले लोगों के दुराग्रह के कारण कला का होने वाला ह्रास बहुत कुछ सीमा तक रुक गया और कला को मानवीय प्रतिक्रिया समझकर कला के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान स्थापित हुए।

अभिव्यंजनावाद

इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक बेनेडेटो क्रोचे (१८६६-१९५२) आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने सौन्दर्य शास्त्र के नियमों पर आधारित अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जो अभिव्यंजनावाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अभिव्यंजनावाद के अनुसार कवि अथवा कलाकार अपनी अन्तर्भूत भावना को बाह्य

१ डॉ० नगेन्द्र : सम्पादित—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा पृष्ठ २८५

जगत में प्रकाशित करता है, न कि बाह्य वस्तु को। प्रकाशित की जाने वाली यह भावना उसकी अपनी निजी सम्पत्ति होती है। उसके कला की सार्थकता इसी में है कि वह अपनी इस भावना का बाह्य जगत में प्रकाशन करे। इस प्रकार कवि या कलाकार एक प्रकार से अपने मन की एक स्थिति को अभिव्यंजित करता है। क्रोचे ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कला अन्तर्भूत भावना या सहज ज्ञान (intuition) है। इसका सम्बन्ध किसी भी स्थिति में बाह्य वस्तु से नहीं सम्बद्ध किया जा सकता क्योंकि बाह्य वस्तु यथार्थ नहीं है। कला की सार्थकता मात्र इस बात में नहीं है कि उसकी रचना पूर्ण हो गई है, वरन् इस सत्य में निहित है कि वह अभिव्यंजित हो गई है। यदि वह अभिव्यंजित हो सकने में समर्थ नहीं है, तो कला की सार्थकता शून्य है, किसी भावना के अभिव्यंजित होने में ही हम उससे परिचित होते हैं। कोई रमणीय प्राकृतिक दृश्य हमें तभी सुन्दर प्रतीत होता है, जब स्वयं हमारी भी भावनाएँ उनमें अभिव्यंजित होती हैं। कोई कवि या कलाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी भावनाएं अभिव्यंजित करता है। इसकी आनंदोपलब्धि उसी सहृदय को हो सकती है, जिसमें स्वयं यह भावनाएं वर्तमान होती हैं; अर्थात् पाठक भी कवि या कलाकार की रचनाओं में अपनी भावनाएं अभिव्यंजित करता है। सौन्दर्य की अभिव्यंजना से ही वह मूर्त रूप धारण करती है।

इस प्रकार क्रोचे ने यह स्वीकार किया है कि सौन्दर्य, सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है। सहज ज्ञान और अभिव्यंजना घनिष्ट रूप में सम्बन्धित हैं। अत: इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहज ज्ञान है या सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है. क्रोचे के अनुसार सहज ज्ञान अपने आप में एक प्रतिरूप (Image) है। इस प्रतिरूप और उस प्रतिरूप में मूलभूत अन्तर है, जो बाह्य जगत की वस्तुओं के अवलोकन के पश्चात् दर्शकों के मन में उत्पन्न होती है। सहज ज्ञान कवि या कलाकार के अन्तर्मन में जन्म लेता है या उसकी अभिव्यंजना होती है। अभिव्यंजना की इसी स्थिति में सौन्दर्य की सृष्टि होती है और जब उसमें यह अभिव्यंजना नहीं होती है, तो सौन्दर्य सृष्टि भी नहीं होती। इस प्रकार क्रोचे ने सौन्दर्य को सहजज्ञान या अन्तर के धर्म के रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को सौन्दर्य की संज्ञा से अभिहित किये जाने में उसे आपत्ति है। कलाकार के मन में सृजन प्रक्रिया सदैव गतिशील रहती है। इसकी अभिव्यंजना भी

इसके मन में ही होती है। कोई एक क्षण ऐसा भी आता , जब वह इस अभिव्यंजना को बाहर प्रकाशित करता है। यद्यपि क्रोचे के मतानुसार बाहर प्रकाशित करने की इस प्रक्रिया का कला सृजन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कार्य अथवा कलाकार की अभिव्यंजना सफल होती है, तो उसे आनन्दोपलब्धि भी प्राप्त होती है। किसी रचना या कलाकृति को जब हम सुन्दर की संज्ञा से अभिहित करते हैं तो उसका अभिप्राय प्रायः यही होता है कि वे इस सुन्दर सहज ज्ञान को पुनः वापस लाने में सहायक होती हैं। क्रोचे के मतानुसार जीवन का कोई भी पक्ष कवि अथवा कलाकार की सृजन-प्रक्रिया के लिए उपयुक्त हो सकता है। कवि अथवा कलाकार की श्रेष्ठता उस आन्तरिक अनुभूति पर निर्भर होती है, जिसे वह कल्पना के माध्यम से अभिव्यंजित करता है। कोई भी वस्तु कलात्मक कृति के लिए उपयुक्त हो सकती है। उसके अच्छे होने या बुरे होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कवि अथवा कलाकार, क्रोचे का अभिमत है, जब अपनी कला को बाह्य रूप देने लगता है तो उसकी कलात्मकता का अन्त हो जाता है, साथ ही उसकी स्वतन्त्रता का भी अन्त हो जाता है। कवि अथवा कलाकार अपने अन्तर्भूत सभी भावों को प्रकाशित नहीं करता वरन् कुछ सहज भावों को चुन कर उन्हें ही प्रकाशित करता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि क्रोचे ने ज्ञान के दो रूप माने हैं। सहजानुभूत ज्ञान के लिए बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं इतनी सम्पन्न है कि उसे किसी अन्य के आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'सहजानुभूत ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है। वह बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र और स्वायत्त है, परवर्ती अनुभावाश्रित प्रभेदों, यथार्थ और अयथार्थ, स्थान एवं काल के रूप-संगठनों तथा अवबोधनों के प्रति वह उदासीन है। सहजानुभूत अथवा प्रतिनिधान रूप है और इसीलिए उससे भिन्न जो अनुभव है, वह संवेदना के प्रवाह अथवा तरंग से भिन्न है। वह मानसिक वस्तु, द्रव्य से भिन्न है—यह रूप, यह अधिकृति अभिव्यंजना है। सहजानुभूति का होना अभिव्यंजित होना है और सिर्फ अभिव्यंजित होना है।'[1] सहजानुभूति

1 "Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into clasrity fo the contemplative spirit. On this cognative process it is impossible to distinguish intuition from expression.

अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का सम्बन्ध-सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्यों के साथ है। कला वास्तव में प्रभावों की अभिव्यंजना होती है, न कि अभिव्यंजना की अभिव्यंजना। क्रोचे के इस अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त ने पश्चिमी साहित्य में ही सौन्दर्य चिन्तन का विकास नहीं किया है, वरन् भारतीय सौन्दर्य चिन्तन की परंपरा को उसने अनिष्ट रूप में प्रभावित किया है।

अव्यक्तिवाद

टी०यस०इलियट वर्तमान अंग्रेजी साहित्य के युग प्रवर्तक कवि एवं विचारक माने जाते हैं। ये अव्यक्तिवाद के सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। उन्होंने 'The Sacret wood' (1917) में लिखा है 'कविता भावों का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से पलायन है।''''''''कवि व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति नहीं देता, बल्कि एक विशिष्ट माध्यम को, जो सिर्फ माध्यम ही होता है, व्यक्तित्व नहीं, जिसमें मन पर पड़े प्रभाव और अनुभूतियां विचित्र और अप्रत्याशित ढंगों से संयुक्त होती हैं। जो प्रभाव और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण होती हैं, सम्भव है कि कविता में उनको स्थान न मिले और जो अनुभूतियां कविता में महत्वपूर्ण होती हैं, मनुष्य के अन्दर, यानी उसके व्यक्तित्व में उनकी भूमिका शायद नगण्य होती है।'[१] इलियट ने यह स्वीकार किया है कि कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति से निर्लिप्त होता है। उसमें जितनी अधिक प्रौढ़ता एवं पूर्णता होती है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही अधिक पृथक बनता है।[२] इलियट ने देश की सांस्कृतिक तथा जातीय चेतना के

The one is produced with the other at the same instance, because, they are not two, but one."

—बेनेडेटो क्रोचे : ऐस्थेटिक, पृष्ठ १४

1 "Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality."

—टी० यस० इलियट : ट्रेडीशन एण्ड इन्डिविजुअल टैलेन्ट

2 "The move perfect the artist, the move completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates."

— टी० यस० इलियट : ट्रेडीशन एण्ड इन्डिविजुएल टैलेन्ट

आगे कलाकार के स्वतंत्र चेतना एवं व्यक्तित्व का अस्तित्व शून्य माना है। कलाकार आत्मोन्मोचन की स्थिति में एक माध्यम मात्र ही बन सकता है, न कि अपने अहं का भाग्य विधाता। इसीलिए उसने माना है कि काव्य वस्तुतः आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं, आत्मा से पलायन है। 'होता यह है कि जैसा कुछ वह उस क्षण होता है उसका—आत्मा का—सतत समर्पण उसे एक अधिक मूल्यवान वस्तु के प्रति करना पड़ता है। कलाकार की प्रगति एक अनवरत आत्मसमर्पण की, व्यक्तित्व के सतत तिरोभाव की प्रक्रिया होती है। व्यक्तित्व उत्सर्ग की इस प्रक्रिया तथा परंपरा की भावना के साथ इसके सम्बन्ध की परिभाषा शेष रह जाती है। इस व्यक्तित्व उत्सर्ग में कला विज्ञान की स्थिति के निकट पहुँचती कही जा सकती है।'[1] समालोचना के सम्बन्ध में इलियट ने अपनी धारणा स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'सच्ची समालोचना और संवेदनात्मक अनुशीलन कवि की ओर नहीं, कविता की ओर दृष्टि केन्द्रित करते हैं। यदि हम समाचारपत्र-समालोचकों के संकुल आलाप और उसके पश्चात् लोक में होने वाली पुनरावृत्ति के मन्द स्वरों पर ध्यान दें, तो हमें अनेक की संख्या में कवियों के नाम सुनाई पड़ेंगे; यदि हमें संसदीय ज्ञान नहीं, काव्यानन्द चाहें और कोई कविता मांगे तो पाना कठिन है। मैंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किसी एक कविता का अन्य लेखकों की अन्य कविताओं से सम्बन्ध का क्या महत्व है और यह विचार रखा है कि आज तक जितनी काव्य रचना हुई है उन सबका एक जीवन्त काया के रूप में भावन किया जाय। कविता के इस निर्वैयक्तिक सिद्धान्त का दूसरा पक्ष है: कविता का अपने स्रष्टा के साथ सम्बन्ध। एक दृष्टान्त द्वारा मैंने यह भी संकेत किया था कि प्रौढ़ और अप्रौढ़ कवि के मानस का अन्तर सर्वथा 'व्यक्तित्व' के मूल्यांकन में नहीं होता—न वह (प्रौढ़ कवि) आवश्यक रूप से अधिक रोचक होता है। न उसके पास आवश्यक रूप से 'अधिक कहने को होता है।' वस्तुतः वह ऐसा परिष्कृत पूर्ण माध्यम होता है, जिसमें विशेष अथवा अत्यन्त वैविध्यपूर्ण भावनाओं

---

१ डॉ नगेन्द्र : सम्पादित—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा पृष्ठ २८५

को नए संयोगों में ढालने की स्वतंत्रता होती है।'[1] इलियट ने काव्य में भावों के महत्व पर घटक तत्वों की 'महत्ता' या तीव्रता नहीं स्वीकार की है। इसके स्थान पर उसने कला पक्ष को महत्ता प्रदान की है, जिससे ये तत्व एक सूत्र में आबद्ध होते हैं। उसने कवि के भाव पक्ष को न्यून महत्व प्रदान किया है और यह स्वीकार किया है कि कवि की विशिष्टता मात्र इसी पर आधारित नहीं होती। वस्तुतः कविता में विलक्षणता का एक दोष है अभिव्यक्ति के लिए नए मानवीय भावों की खोज करना; गलत जगह पर नूतनता की इस खोज में उसे मिलती है विकृति। कवि का काम नये भाव खोजना नहीं है, अपितु साधारण भावों का उपयोग करके उन्हें काव्य रूप देने की प्रक्रिया में ऐसी भावनाएं व्यक्त करना है, जो वास्तविक भावों में बिल्कुल भी विद्यमान न हों। इस प्रक्रिया में उसे जिन भावों की अनुभूति नहीं हुई वे भी उसी तरह उसके सम्मुख आयेंगे, जैसे वे, जिनसे वह परिचित है। अतः उसे मानना चाहिए कि 'शान्त अवस्था में अनुस्मृत भाव का सूत्र मिथ्या है।'[2] और आगे उसने इसी सन्दर्भ में अभिव्यक्त किया है कि 'बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। कविता लिखने में बहुत कुछ ऐसा है जो सचेतन और साभास होना चाहिए। वास्तव में, कुकवि जहाँ उसे चैतन्य रहना चाहिए वहाँ अचेत रहता है और जहाँ अचेत रहना चाहिए वहाँ चैतन्य। दोनों ही प्रकार की गलतियाँ उसे 'वैयक्तिकता' की ओर उन्मुख करती हैं। कविता भाव को उन्मुक्त रूप से प्रवाहित कर देना नहीं भाव से पलायन है; कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं उससे मुक्तिक लाभ है। परन्तु हाँ, जिनके पास व्यक्तित्व और भाव दोनों हैं, वे ही यह समझ सकते हैं कि इससे पलायन चाहना क्या होता है।'[3] इस प्रकार सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से इलियट ने एक सर्वथा नवीन दृष्टि प्रदान की है।

मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

यूरोप के वर्तमान काव्यशास्त्र के इतिहास में डा० आई०ए०रिचार्ड्स का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। रिचार्ड्स ने आलोचना के क्षेत्र में

१ डॉ० नगेन्द्र: सम्पादित—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० ३८५

२ वही, पृष्ठ २८७

३ वही, पृष्ठ २८८

मनोवैज्ञानिक मूल्यों पर बल दिया है, उन्होंने साहित्य और जीवन में अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया है, क्योंकि उसका आविर्भाव जीवन से ही होता है, और वह जीवन के लिए ही रचा जाता है। उनकी आलोचना दृष्टि मानवतावादी है। उनके अनुसार कला और साहित्य को जीवन की उपयोगिता से अलग करके देखना और उस पर विचार विमर्श करना असंगत है, तर्कहीन है, इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि कला और साहित्य की अनुभूतियाँ भी जीवन की अन्य अनुभूतियों के समान होती हैं। कला वास्तव में निरपेक्ष अस्तित्व का निरूपण करती है। मेथ्यू आर्नाल्ड ने जब यह लिखा था कि कविता जीवन की आलोचना होती है, तो निश्चय ही यह लिखते समय उनके मन में यह विचार रहा होगा कि यह एक ऐसा तथ्य है, जो साहित्य में सदैव ही उपेक्षणीय रहा है। हालांकि यह तथ्य पूर्णतया प्रत्यक्ष है। आलोचक मूल्यों का निर्णायक होता है। कलाकार का मुख्य कर्तव्य यही है कि वह अपने द्वारा सर्वाधिक मूल्यवान समझे जाने वाले भावानुभूतियों को अभिव्यक्ति देकर स्थायित्व प्रदान करे। केवल कलाकार ही एक ऐसा व्यक्ति होता है, जिसके पास ऐसी मूल्यवान भावानुभूतियों के होने की संभावना अधिक हो सकती है, जिसका प्रकाशन किया जा सकता है। 'कलाकार वह बिन्दु है, जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी अनुभूतियों में—कम से कम उन अनुभूतियों में, जो उसकी कृति को मूल्यवान बनाती हैं—ऐसे आवेगों का सामंजस्य लक्षित होता है, जो अधिकांश लोगों के मन में अस्त व्यस्त, परस्पर अन्तर्भूत तथा द्वन्द्वरत हुआ करते हैं। जो कुछ अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है। यदि अव्यवस्था में से व्यवस्था का विकास करने में उसकी विफलताएं अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक परिस्फुट हो जाती हैं तो उसका कारण—कम से कम कुछ हद तक—कलाकार का प्रबलतर साहस होता है। यह उसकी स्पृहा का दण्ड एवं उसकी अपेक्षाकृत अधिक नम्यता का परिणाम होता है। परन्तु जब वह सफल होता है, तो उसकी सिद्धि का मूल्य सदैव पूर्णतर संगठन में प्रकट होता है, जिसके फलस्वरूप प्रतिचेष्टा तथा क्रियाशीलता की अधिक सम्भावनाओं की उद्भावना होती है।'[1] रिचार्ड्स ने आलोचक को जीवन के मूल्यों का निर्णायक एवं समाज के

---

१ वही, पृष्ठ २९३

मानसिक स्तर की विशेषता की रक्षा करने वाला नियामक शक्ति स्वीकार किया है। आलोचक का सामाजिक मन के स्वास्थ्य से एक डॉक्टर की भाँति ही सम्बन्ध होता है और उसकी उचित देखभाल करनी पड़ती है।

जो लोग कला के नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण को अधिक महत्व नहीं प्रदान करते हैं और उसकी अपेक्षा कला को स्वतः साध्य सृष्टि मानते हैं—रिचार्ड्स ऐसे विचारकों की मनोवृत्ति पर अपना असंतोष प्रकट करते हैं। वह काव्य के माध्यम से विभिन्न वृत्ति का सामंजस्य सम्भव मानते हैं। साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि इसकी सहायता से व्यक्ति में आन्तरिक सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है। उनके मतानुसार मूल्यों की वास्तविक कसौटी यह है कि मानव की छोटी से छोटी पर महत्व रखने वाली वृत्तियों को कुंठित किए बिना उनका सामंजस्य भिन्न-भिन्न भावनाओं से किया जाय, जिससे वे अधिकतम मात्रा में संतोष का अनुभव करें।[1] साथ ही वे यह भी मानते हैं कि इससे वे पूर्णतया स्वतन्त्र जीवन यापन कर सकते हैं। वृत्तियों का सामंजस्य सफलतापूर्वक तभी सम्भव हो सकता है जब उसके साथ त्याग की चरम भावनायें घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हों। इससे मानवीय शक्तियों के अपव्यय की सम्भावनाएं न्यून हो जाती हैं। सामंजस्य की दिशा का निर्धारण सामाजिक व्यवहार की मर्यादा तथा औचित्य के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार रिचार्ड्स के मूल्यों की कसौटी एक ओर व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर आधारित है, दूसरी ओर वह लोक मंगल से भी घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित है। उसकी यह मूल्य दृष्टि देश, काल तथा पात्र के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इसीलिए वह गत्यात्मक कोटि की है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने जीवन तथा काव्य को नीति से सम्बन्धित किया है।

'कविता-कविता के लिए' की मान्यता से रिचार्ड्स ने यह निष्कर्ष निकाला है: एक, यह अनुभूति अपने आप में साध्य है, अपनी महत्ता के आधार पर स्पृहणीय है और उसका अपने आप में मूल्य है। दूसरे यह निहित महत्ता ही उसका काव्य मूल्य है। संस्कृति का धर्म के साधन के रूप में काव्य का परोक्ष मूल्य भी हो सकता है—क्योंकि यह शिक्षा देता है, भावों

---

१ आई० ए० रिचार्ड्स: प्रिंसिपुल्स ऑव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म पृष्ठ ४७-४८

को वर्द्धन प्रदान करता है और सदुद्देश्य को बल, क्योंकि वह कवि को सत्य द्रष्टा तथा आत्मशक्ति का लाभ कराता है और अच्छी बात है, इन कारणों से भी उसे मूल्यवान समझिए परन्तु एक सुखद कल्पनापरक अनुभूति के रूप में उसका काव्यमूल्य उसकी परोक्ष महत्ता तक ही सीमित हो या प्रत्यक्ष रूप से उसी के द्वारा आँका जाय—यह नहीं हो सकता। उसकी परख तो उसके भीतर से अन्तरंग में बैठकर ही हो सकती है। सृजन प्रक्रिया में कवि के तथा आस्वादन की प्रक्रिया में पाठक के मन में परोक्ष साध्य की बात उठ आने से तो काव्य का मूल्य घट जायेगा क्योंकि उसमें काव्य को उसके वातावरण में से निकाल कर उसकी प्रकृति बदलने की चेष्टा निहित रहती है। काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तु जगत का (इस शब्द के साधारण प्रचलित अर्थ में) अंग अथवा उसका प्रतिरूप हो; उसकी निजता तो इस बात में है कि वह एक स्वतन्त्र, स्वतःपूर्ण, निरपेक्ष एवं स्वायत्त जगत हो'। इस प्रकार रिचार्ड्स ने मूल्य तथा प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया है। उनका यह प्रेषणीयता का सिद्धान्त कलात्मक भाव अथवा अनुभूति से सम्बंधित है। कला द्वारा प्रदत्त अनुभूति को उन्होंने मानकीकृत अनुभूति (Standard Experience) या कल्पनापरक अनुभूति (Imaginative Exprience) के रूप में विवेचित किया है। इस दृष्टि से काव्य विवेचन में उन्होंने व्यक्तिगत मनोविज्ञान की सहायता ली है। साहित्य में प्रेषणीयता के तत्वों को उन्होंने इतना अधिक महत्व प्रदान किया है कि यह स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं दृष्टिगोचर हुई कि बिना प्रेषणीयता के साहित्य सृजन की कल्पना असंभव है क्योंकि प्रेषणीयता काव्य का अचेतन तथ्य है और कोई भी काव्य चाहे वह कितना ही स्वान्तः सुखाय की भावना से क्यों न लिखा जाय, प्रेषणीयता के तत्वों से वंचित नहीं रह सकता। इस प्रकार इन्होंने कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष को अधिक महत्ता प्रदान की है और यह स्पष्ट किया कि तर्क-संगत आलोचना मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद द्वारा ही संभव हो सकती है। यह रिचार्ड्स द्वारा कलावादियों को एक जबर्दस्त चुनौती थी।

मनोविश्लेषणवाद

सिगमण्ड फ्रायड (१८५६-१९३९) के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त ने आधुनिक युग में जितनी क्रान्ति विचारों के क्षेत्र में उत्पन्न की है, उतनी किसी अन्य विचारधारा ने नहीं। फ्रायड ने यह स्वीकार किया है कि कवियों

के अवचेतनपन में साधारण व्यक्तियों की ही भांति कुंठाएं एवं वर्जनाएं होती हैं, जिनका वह शमन करने का प्रयत्न करता है, पर नहीं कर पाता। चूंकि अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा वह अधिक बौद्धिक होता है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति वह काल्पनिक जगत में काव्य के माध्यम से कर अपने अवचेतन में उठे असंतोष को शान्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार काव्य का मात्र एक ही उद्देश्य होता है—कवि की अपनी आत्मा को संतोष प्रदान करना। कवि की वास्तविक प्रेरणा जीवन एवं जगत तथा कवि व्यक्तित्व से नहीं प्राप्त होती, वरन् कवि के अवचेतन मन से प्राप्त होती है। इसलिए फ्रायड ने काव्य की परख वैयक्तिक मनोविज्ञान के माध्यम से करने का प्रयत्न किया है। काव्य में कवि व्यक्तित्व का एकांगी भाव ही प्रकाशित होता है, जो अवचेतन मन की कुंठाओं से सम्बन्धित होता है। लेखक वही करता है जो बच्चा खेल में करता है। वह अति कल्पना का जगत बनाता है और उसे गंभीर भाव से ग्रहण करता है, अर्थात् यथार्थता से सर्वथा विश्लिष्ट करते समय वह इसे अतिशय आभरणों से भूषित करता है। भाषा ने बच्चों की क्रीड़ा और काव्य सृष्टि के बीच के इस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखा है वह कल्पनात्मक रचनाओं के उन विशिष्ट प्रकारों को, जो मूर्त वस्तुओं से सम्बद्ध होते हैं और जिनका प्रतिनिधान सम्भव है 'अभिनयों' के नाम से निर्देशित करती है और जो व्यक्ति उनका अभिनय करते हैं उन्हें 'अभिनेता' कहा जाता है। अस्तु, इस कल्पनात्मक काव्य जगत्, की अवास्तविकता का साहित्यिक प्रविधि पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बहुत सी ऐसी बातें हैं जो वास्तविक जीवन में घटित होने पर आनन्द नहीं देतीं, किन्तु 'अभिनय' में उससे आनन्द लाभ होता है—बहुत से ऐसे भाव हैं जो मूलतः दुःखपूर्ण हैं, किन्तु कवि की रचना के दर्शक और श्रोता के लिए वे आनन्द के उद्गम हो सकते हैं।[1] जिस आनन्द का उपभोग मानव अपने जीवन में एक बार कर लेता है, फिर उसका त्याग वह चाहते हुए भी सरलता से नहीं कर सकता और मान लिया कि हम किसी वस्तु का त्याग करते भी हैं तो वह एक प्रकार का विनिमय ही होता है। हम एक वस्तु का त्याग कर दूसरी वस्तु ग्रहण कर लेते हैं। बच्चा बचपन में खेलता है। बड़े होने पर वह खेलना छोड़कर सर्वथा कल्पनाशील जगत में विचरण करने लगता है

---

१ डॉ० नगेन्द्र-सम्पादित—पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परंपरा, पृष्ठ ३२९

और दिवा स्वप्न देखने लगता है। फ्रायड के अनुसार अधिकांश मनुष्य जीवन भर काल्पनिक चित्रों का ही निर्माण करते रहते हैं। जो आदमी जीवन में सुखी है, वह काल्पनिक चित्रों का निर्माण नहीं करता। काल्पनिक चित्रों का निर्माण जीवन में असंतुष्ट व्यक्ति ही करते हैं। अतृप्त इच्छाएं एवं भावनाएं ही इन काल्पनिक चित्रों को प्रेरणा प्रदान करती हैं। ये अतृप्त इच्छाएं या भावनाएं दो प्रकार की होती हैं, या तो महत्वाकांक्षाएं होती हैं जो व्यक्तित्व उत्कर्ष में सहायता प्रदान करती है या फिर वे काम मूलक होती हैं। ये काम भावनाएं युवतियों को उनके एकांत क्षणों में अभिभूत करती हैं क्योंकि अधिकांश रूप में उनकी भावनाएं काम से सम्बन्धित होती हैं। युवकों में कामवासना तो होती है, साथ ही अहं भावना तथा महत्वाकांक्षा की भावनाएं भी सम्बद्ध हो जाती हैं। ये प्रवृत्तियां प्रायः संश्लिष्ट होती हैं।

फ्रायड ने कवियों का सम्बन्ध इन प्रवृत्तियों एवं दिवा स्वप्नों से जोड़ते हुए बताया है कि 'एक वर्ग उन कवियों का होगा जो प्राचीन युगों के लेखकों-महाकाव्यों एवं भाषा शास्त्र के प्रणेताओं-की तरह पूर्व-प्रस्तुत लोक-सम्मत सामग्री ग्रहण करते हैं, दूसरा वर्ग उन लेखकों का होगा जो अपनी सामग्री की उद्‌भावना स्वयं करते हैं।' उसने आगे कहा है 'जब एक साहित्यकार अपनी कृति प्रस्तुत करता है अथवा ऐसे वर्णन करता है जिसे हम उसका वैयक्तिक दिवास्वप्न कह सकते हैं, तब हमें अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द कदाचित् अनेक स्रोतों से उद्‌भूत होता है। कलाकार इस आनन्द की सृष्टि किस प्रकार करता है यह उसका अपना अन्तरंग रहस्य है। काव्य कला का मूलतत्व इसी प्रविधि में निहित है जिसके द्वारा हमारे जुगुप्सा भाव के विकर्षण को जीता जा सके और निःसन्देह इसका सम्बन्ध उन अवरोधों से है जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच में खड़े किये गए हैं। इस प्रविधि में प्रयुक्त होनेवाली दो प्रणालियों का हम अनुमान कर सकते हैं। लेखक अपने दिवा स्वप्नों के अहंपूर्ण स्वरूप का रूपांतरों एवं परिवर्तनों द्वारा परिहार कर सकता है और अपने दिवा स्वप्नों की अभिव्यक्ति के द्वारा वह हमें शुद्ध रूपात्मक, अर्थात् सौन्दर्यबोध सम्बन्धी आनन्द प्रदान करने का प्रलोभन दे सकता है। आनन्द के इस सम्वर्धन को उत्तेजना की किश्त अथवा पारिभाषिक शब्दों में 'अग्रिम आनन्द' कह सकते हैं। कारण यह किश्त उस महान आनन्द का मुक्त संचार करती है जो हमारे मानस के अन्तरतम गह्वरों में छिपा पड़ा है। मेरी यह धारणा है कि कल्पना-प्रवण लेखकों की कृतियों से

हमें सौन्दर्य-बोध का जो आनन्द मिलता है वह यही 'अग्रिम आनन्द' है और साहित्य के सच्चे आनन्द का उद्रेक हमारे मस्तिष्क के तनाव से मुक्त होने पर होता है। इस काव्य की प्राप्ति में कई उपकरणों का योग होता है। इन उपकरणों में सबसे महत्वपूर्ण शायद लेखक का वह कौशल है जो हमें एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है जहाँ हम बिना किसी तिरस्कार अथवा लज्जा का बोध किये अपने दिवा स्वप्नों का रसास्वादनकर सकते हैं। यहाँ हम एक ऐसे पथ पर पहुँचते है जिसके सम्बन्ध में नए, रोचक तथा जटिल अनुसंधान हो सकते हैं।''[1] इस प्रकार फ्रायड ने काम भावनाओं एवं दिवा स्वप्नों को काव्य सृजन की मूल प्रेरणा मानकर एक नवीन विचारधारा का सृजन किया है।

मार्क्सवाद

साहित्यालोचन की दिशा में मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि कार्लमार्क्स (१८१८–१८८३) का साहित्यालोचन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है फिर भी उसके द्वारा प्रतिपादित दर्शन कला एवं साहित्य के सम्बन्ध में प्रकट की गई मान्यतायें इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई है कि साहित्यालोचन उससे अछूता नहीं रह सका है। मार्क्सवाद साहित्य का प्रधान उद्देश्य वर्गहीन समाज की स्थापना मानता है। साहित्य का सम्बन्ध युगीनजीवन तथा वर्ग संघर्ष से होना अनिवार्य है। साहित्य के शोषित वर्ग के भावों को महत्ता देनी चाहिये तभी सार्वजनीन बन सकता है। मार्क्सवाद काव्य का मूलाधार आर्थिक मानता है, इसीलिये काव्य निर्माण सम्बन्धी दिशायें देश की उत्पादन प्रणाली एवं आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप परिवर्तित होती रहती हैं। इस प्रकार साहित्य का विकास मूलतः आर्थिक विकास पर ही निर्भर होता है। कला के आस्वादन के सम्बन्ध में कलात्मक दृष्टि से संस्कृत होना अनिवार्य होता है। मार्क्सवाद का दार्शनिक दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से विख्यात है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सृष्टि का मूल सत्य पदार्थ है। यह निरन्तर परिवर्तनशील अवस्था में रहती है, इसलिए इसे द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही जाना जा सकता है। प्रत्यय और पदार्थ में

१ डॉ० नगेन्द्र: सम्पादित—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा पृष्ठ ३३६-३३७

पदार्थ को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है, क्योंकि सृष्टि में प्रत्यय पदार्थ के पश्चात् ही आया। प्रत्यय पदार्थ प्रसूत है और उनका अस्तित्व स्वतन्त्र होता है। संसार के प्रत्येक परिवर्तन को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखना चाहिये। द्वन्द्वात्मक में संघर्ष एक अनिवार्य स्थिति है। यह संघर्ष मूलतः दो परस्पर विरोधी शक्तियों में होता है। इस सृष्टि का मूल सत्य परिवर्तन है, जिसे यह संघर्ष प्रभावित करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद 'डाइलेक्टिकल आयडियलिज्म,से आविर्भूत है। यह पूंजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है। शोषण पूंजीवादी वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का होता है। परिश्रम तो सर्वहारा वर्ग करता है, पर लाभ वह इने गिने लोग ही उठाते हैं, जो पूंजीवादी वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। समाज में यह शोषण समाप्त होना चाहिए। पर चूंकि पूंजीवादी वर्ग शक्तिशाली है और सर्वहारा वर्ग शक्तिहीन, इसलिए यह शोषण सरलता से समाप्त नहीं होगा। इसके लिए समाज में क्रान्ति होनी चाहिए और समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। मार्क्सवादी इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध साहित्य से जोड़ कर उसमें इन्हीं विशेषताओं को खोजने का प्रयत्न करते हैं कि उसमें समाजवादी यथार्थवाद है या नहीं। यह दृष्टि बड़ी प्रगतिशील और उपयोगी है।

४

आलोचना-प्रकार

यों मोटे रूप से कहा जा सकता है कि जितने प्रकार के साहित्यिक विषय होंगे, उतने ही प्रकार की आलोचना पद्धति भी होगी। किसी कृति की आलोचना करते समय आलोचक किन बातों का विशेष ध्यान रखता है और किन तथ्यों को विशेष रूप से वह स्पष्ट करना चाहता है, उस रचना का उसके मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है और किस सीमा तक वह उससे प्रभावित होता है—आलोचना का स्वरूप बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर रहता है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि ये सभी प्रश्न (जिनका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है) आलोचक के दृष्टिकोण से घनिष्ट रूप में सम्बन्धित हैं और आलोचना के प्रकार आलोचक के इसी दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण निर्मित होते जाते हैं और इस प्रकार अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का जन्म होता है। अतः समझ लेना चाहिए कि आलोचना के वर्गीकरण की समस्या इसी 'दृष्टिकोण' से सम्बन्ध रखती है और यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक वैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, रचनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, समाजवादी या कलावादी कुछ भी हो सकता है। आज हिन्दी में अनेक प्रकार की आलोचना-पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है, जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं :—

१. ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली
२. आख्यात्मक आलोचना प्रणाली
३. निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली
४. नैसर्गिक आलोचना प्रणाली
५. परिचयात्मक आलोचना प्रणाली
६. तुलनात्मक आलोचना प्रणाली

७. जीवन वृत्तात्मक आलोचना प्रणाली
८. गवेषणात्मक आलोचना प्रणाली
९. शास्त्रीय आलोचना प्रणाली
१०. सिद्धान्त प्रधान आलोचना प्रणाली
११. अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली
१२. रचनात्मक आलोचना प्रणाली
१३. वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली
१४. प्रभावाभिव्यंजक आलोचना प्रणाली
१५. अभिव्यंजनावादी आलोचना प्रणाली
१६. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना प्रणाली
१७. प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली

ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली

इस आलोचना प्रणाली का आधुनिक युग में खूब प्रचार एवं प्रसार हुआ है। साहित्य वस्तुत: जीवन की आलोचना करने के साथ ही समकालीन युग की परिस्थितियों से भी घनिष्ठ रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति भी इन युगीन परिस्थितियों से अपने को पूर्णतया अलग स्थिति में नहीं कर पाता। वह एक प्रकार से युग सापेक्ष्य ही होता है और उस पर समकालीन परिस्थितियों का ही साहित्य की भाँति गहन प्रभाव पड़ता है। साहित्य और युग के मध्य परस्पर इन संबंधों के स्पष्टीकरण करने का कार्य ऐतिहासिक आलोचना करती है। इसके अन्तर्गत किसी रचना की आलोचना करते समय समकालीन युग की परिस्थितियों एव तत्कालीन वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इसे थोड़े और स्पष्ट रूप में समझ लेना आवश्यक होगा। इस आलोचना प्रणाली का अनुसरण करते समय आलोचना के लिए यह अनिवार्य सा हो जाता है कि वह जिस किसी भी कृति को आलोचना के लिए उठाए, पहले स्वयं अपने व्यक्तित्व का उस युग की परिस्थितियों में उन्मीलन कर दे, जिस युग में उस रचना की प्रक्रिया सम्भव नहीं है। इस उन्मीलन तक ही सीमा नहीं है, वरन् इसके उपरान्त आलोचक इस युग की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं उस युग जीवन का गहन अध्ययन एवं मनन करके निष्कर्ष निकाले, जिसके साथ उसको पूर्ण सहमति हो और तादात्म्य हो। इसे हृदयंगम करने के उपरान्त ही उसे आलोचना के पथ

पर अवश्य होना चाहिए। बिना इसके आलोचक उस रचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा और उसकी आलोचना तर्कसंगत नहीं होगी। साहित्य का अध्ययन करते समय प्रमुख रूप से दो बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं। पहली है साहित्य की जातीय (Racial) भावना; और दूसरे उस भावना की युगानुकूल परिवर्तन चेतना में पूर्णाभिव्यक्ति। साहित्य किसी जाति की आत्मा से साक्षात्कार करता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली वातावरण तथा देशकाल का पूर्ण विवरण अपने सामने रखकर आलोचना प्रक्रिया में संलग्न होती है।

इस आलोचना प्रणाली का प्रयोग प्रमुख रूप से अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख इतिहासकार विद्वान टेन ने किया है। टेन ने साहित्य के अध्ययन के लिए तीन तथ्यों का विवेचन अवश्य माना है। जाति (Race); परिवेश (Milieu); और समय बिन्दु (Moment)। टेन के इस सिद्धान्त के फल-स्वरूप साहित्यालोचन की नवीन भावभूमियाँ प्राप्त हुईं और युगीन परिस्थितियों में जातीय चेतना की पृष्ठभूमि में साहित्य का संतुलित अध्ययन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। एक व्यक्ति जब साहित्य की रचना करता है, तो उसकी रचना प्रक्रिया पर उसकी जातीय संस्कृति और सभ्यता का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। उस प्रभाव से वह चाहकर भी नहीं बच पाता। इसके अतिरिक्त भौगोलिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश की सीमाओं को भी वह विच्छिन्न नहीं कर पाता और उन्हीं सीमाओं के मध्य वह अपनी रचना प्रक्रिया उनसे प्रभाव ग्रहण कर संलग्न होता है। वस्तुतः यही विभिन्न स्थानों के साहित्य स्वरूपों में अन्तर का परिचायक होता है। भारत में लिखे गए, किसी उपन्यास की भौगोलिक, राजनीतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि अमरीका में लिखे गए उपन्यास की इसी प्रकार की पृष्ठभूमि से नितान्त रूप से भिन्न होगी। ऐतिहासिक आलोचना पद्धति में तथ्यों का प्रमुख रूप से ध्यान रखा जाता है और उसी के आधार पर समीक्षा होती है। टेन के अनुसार युगीन चेतना में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। वह स्थिर (static) नहीं है, वरन् गतिशील है। पूर्व-प्रेमचन्द काल में लिखे गए उपन्यासों की परिस्थितियाँ एवं वातावरण आज लिखे जाने वाले उपन्यासों की परिस्थितियों एवं वातावरण से बहुत कुछ भिन्न है। 'रामचरित मानस' और 'साकेत' में भी इसी दृष्टि से अन्तर है। यह युगीन चेतना की परिवर्तनशीलता का ही परिचायक है। टेन के अनुसार इसीलिए जाति, परिवेश और समय बिन्दु की पृष्ठभूमि पर

साहित्य की रचना प्रक्रिया होती है।[१] साहित्य की आलोचना करते समय इन तीनों तथ्यों से स्पष्ट परिचय अनिवार्य होता है और उसी पर किसी रचना का उचित एवं तर्कसंगत मूल्यांकन निर्भर करता है। ऐतिहासिक समीक्षक किसी रचना या रचनाकार को युगीन परिस्थितियों से अलग नहीं मूल्यांकित करना चाहता। वह उनका मूल्यांकन उन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में कर उनकी विशेषताओं एवं न्यूनताओं का निर्णय करता है। इस समीक्षा प्रणाली में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि किसी रचना ने युग के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान पर अपना प्रभाव किन अंशों में डाला है। यदि वह प्रभाव अधिक मात्रा में है तो निश्चय ही वह कृति श्रेष्ठ है। और यदि नहीं तो उस कृति में अभाव है।

यहां यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के आलोचक का इतिहासकार होना भी आवश्यक है? यद्यपि इतिहास कवियों की समालोचना की उपेक्षा तो नहीं कर पाता, पर उसमें उनकी विस्तृत आलोचना संभव नहीं है ("इतिहास की पुस्तक में किसी की पूरी तो क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।") इतिहासकार और आलोचक का क्षेत्र वास्तव में अलग-अलग है और यह आवश्यक नहीं कि श्रेष्ठ इतिहासकार आलोचक भी हो।[२] इस आलोचना प्रणाली का आश्रय ग्रहण करने वाले को इतिहास का यथेष्ट अंशों में आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस पद्धति के अन्तर्गत किसी रचना की समीक्षा करते समय

---

1 "It was perceived that a work of literature is not a mere play of imagination, a solitary caprice of a heated brain, but a transcript of contemporary manners, a type of a certain kind of mind."

—टेन : हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, भूमिका, पृष्ठ १

2 "The historian of a literature must be distinguished from the critic of literature. The task of research among the remains of a literary period is distinct from the task of estimating those remains for what they may be intrinsically worth. A literary historian who may do invaluable work in compiling, shifting, anntating, editing is after a very poor critic."

—स्कॉट जेम्स : द मेकिंग ऑव लिट्रेचर, पृष्ठ २४-२५

रचनाकार को पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहास का प्रमुख रूप से ध्यान रखना पड़ता है। इसमें साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाता है। आलोचक लेखक के समकालीन युग में प्रेरणा के उन उद्गम स्रोतों के अन्वेषण का प्रयत्न करता है, जिनसे प्रेरित होकर ही कलाकार ने रचना की होगी।

पर इस प्रणाली की आलोचना भी की गई, क्योंकि किसी साहित्य का मेरुदण्ड केवल वातावरण अथवा देशकाल ही नहीं होता। यदि ऐसा हो तो साहित्य की शाश्वत विशेषता समाप्त हो जाय और कोई भी श्रेष्ठ साहित्य अमरत्व पद का अधिकारी न बन सकेगा। इस प्रणाली का एक अन्य दोष यह हुआ कि किसी रचना को उसके वास्तविक स्वरूप में न परख कर उसके लेखन कार्य तथा कार्य कारण का सम्बन्ध निश्चित किया जाने लगता है, जिसमें स्वयं रचना का महत्व शून्य हो जाता है। दूसरे इस आलोचना प्रणाली का एक और दोष यह है कि रचना प्रक्रिया को युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में मूल्यांकित किये जाने के परिणामस्वरूप व्यक्ति की भी पूर्ण उपेक्षा होती है। यदि इस पद्धति में विश्वास रखने वाले समीक्षक आज की व्यक्ति-वादी कृतियों अथवा अस्तित्ववादी रचनाओं की समीक्षा करें, तो उनकी तमाम श्रेष्ठता के बावजूद भी समीक्षकों को व्यक्ति चिंतन एवं व्यक्ति प्रधान इन रचनाओं में किन्हीं भी विशेषताओं के दर्शन न होंगे, क्योंकि उनमें युगीन परिस्थितियों की उपेक्षा कर दी जाती है, व्यक्ति की सत्ता को महत्ता प्राप्त होती है। वास्तव में लेखकीय व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा कर साहित्य समीक्षा करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। जाति, परिवेश और समय बिन्दु के साथ लेखकीय व्यक्तित्व को स्वीकार करने के उपरान्त ही इस समीक्षा का तर्क संगत रूप सामने आ सकता है। हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का जन्म मध्ययुग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हुआ और उसका विकास आगे चलकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं मिश्रबन्धुओं ने किया। फिर इसका सुसंयत एवं प्रौढ़ रूप आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत किया। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'आनन्द कादम्बिनी' की शुक्ल जी द्वारा की गई समीक्षा इस पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण है। इस पद्धति का आधुनिक युग में विकास डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय एवं डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के हाथों में हुआ। डॉ० वार्ष्णेय ने अपनी कृतियों में उन्नीसवीं शताब्दी की परिस्थितियों एवं वातावरण का साहित्य के सन्दर्भ में जो विवेचन किया है, वह अत्यन्त प्रौढ़ है एवं तात्विक है।

व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली

व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली (Interpretative criticism) का जन्म जर्मनी के विचारकों के कारण हुआ। उन्होंने कला की अत्यन्त विशद एवं सूक्ष्म व्याख्या कर इस आलोचना की उपयोगिता सिद्ध की और शीघ्र ही इसकी ओर साहित्य विचारकों एवं चिन्तकों का ध्यान जाने लगा। फलस्वरूप इसका प्रचार एवं प्रसार तीव्रता से हुआ। इंगलैण्ड में इसका प्रचार कार्लाइल ने और उसके बाद आर्नल्ड ने किया। इसे लोकप्रिय बनाने में पेस्टर का भी प्रमुख हाथ था। अब आलोचना का उद्देश्य केवल गुण दोषों का विवेचन मात्र न समझकर किसी रचना को उसके वास्तविक रूप में परखकर निरपेक्ष रुचि की स्थापना करना समझा जाने लगा। इस आलोचना प्रणाली ने आलोचकों को इस बात का निर्देश दिया कि वे किसी रचना की आलोचना करने के पूर्व उसकी अन्तरात्मा में गहरे और तल्लीनतापूर्वक पैठने का प्रयत्न करें और उस वातावरण एवं अनुभवों का उद्घाटन करें, जिनकी छाया में कलाकार ने उस रचना विशेष का सृजन किया होगा और तभी वे आलोचना का मुख्य उद्देश्य पूर्ण कर सकेंगे। यह आलोचना प्रणाली समीक्षा के व्यक्तिगत मानदण्डों की स्थापना पर बल देती है। यह रचनाओं में निर्णयात्मक आलोचना की भाँति ऊँच-नीच का भेद नहीं मानती। यह साहित्यकार या कलाकार की अपनी सृष्टि की विशेषताओं को अस्वीकार न कर उन्हें प्रोत्साहन देती है। यह नियमों को प्रगतिशील और परिवर्तनशीलता के नियमों से प्रभावित स्वीकार करती है। एक आलोचक के अनुसार व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली में साहित्य की परीक्षा शुद्ध अन्वेषण के वातावरण में होता है।[1] इस आलोचना प्रणाली का जन्म तभी होता है

---

1 "Inductive criticism will examine literature in the spirit of pure investigation, looking for the laws of art in the practice of artists and treating art like the next of nature as a thing of continuous development which can be fully grasped only when examined with an attitude of mind adopted to the special variety without interference from without."

—मोल्टन: हडसनकृत 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर' (पृष्ठ २७१) से उद्धृत

अब किसी रचना की आलोचना करने के समय के इतिहास का तथा उससे भी पूर्व इतिहास का आश्रय ग्रहण कर उसकी रचना का मूल्यांकन करता है।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि व्याख्या एवं आलोचना में अन्तर है। व्याख्या का प्रवेश आलोचना से पूर्व होता है। व्याख्या की आदर्श गति, रुचि एवं प्रतिभा के मध्य परस्पर एकता की गति में है। इस आलोचना प्रणाली की शर्त है आलोचक रचनाकार की प्रतिभा में अपने को पूर्णतया लीन कर दे और उसी अनुभव का पुनः सृजन करे, जिसमें उस रचना का मूल रूप से आविर्भाव हुआ होगा। इस प्रक्रिया में आलोचक के मन की प्रवृत्ति ग्रहणशील होनी चाहिए। वह इस प्रणाली के अन्तर्गत रचना के मूल्यों को खोजने के लिए कहीं अन्यत्र न जाकर स्वयं उसकी रचना में ही मूल्यान्वेषण करता है। इसमें पूर्वाग्रहों की पूर्ण उपेक्षा करनी पड़ती है, क्योंकि यह प्रणाली प्रत्येक रचना को आलोचना के लिए स्वतन्त्र इकाई स्वीकार करती है। इस आलोचना प्रणाली के मूल तत्व दो हैं :—

१ वैज्ञानिक यथा तथ्य भाव
२ वैज्ञानिक तटस्थता

इस प्रणाली में आलोचक एक वैज्ञानिक की भाँति किसी रचना की आलोचना करता है और निःसंग भाव से उसकी समीक्षा करता है। इसका कारण यह है कि कला की मूल प्रेरणा, उद्देश्य प्राप्ति तथा उसकी श्रेष्ठता एवं उपयोगिता का निर्णय केवल व्याख्या के द्वारा ही संभव हो सकता है। वस्तुतः व्याख्याकार समालोचक का यह प्रधान कर्तव्य माना जाने लगा कि वह जिस कृति को आलोचना के लिए उठाए, पहले उसे उस रचना के मूल-भावों तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए और अपने अन्दर उस मानसिक स्थिति का सृजन करना चाहिए, जो स्वयं कलाकार की मानसिक स्थिति से पूर्ण तादात्म्य रखता हो और जिससे प्रेरणा ग्रहण करके कलाकार ने अपनी कला का सृजन किया होगा। स्पष्ट है कि आलोचक में ऐसी समर्थता तभी संभव हो सकती है जब उसमें कलाकार की भावनाओं एवं हृदय संवेगों को आत्मसात करने की शक्ति हो। बिना इसके वह आलोचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। इसके लिए आलोचक में प्रेषणीयता के भावों के साथ उदारता एवं भावनात्मकता का होना भी आवश्यक होता है। उसके व्यक्तित्व में उदात्तीकरण की अनुपम प्रवृत्ति होनी चाहिए तथा दूसरे के भावों एवं

प्रेरणाशक्ति के स्रोतों को ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए। व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक अन्वेषक के रूप में होता है। हिन्दी में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली का सूत्रपात करने का श्रेय है। तुलसीदास, सूरदास एवं जायसी पर लिखी गई उनकी आलोचनाएं इसी प्रकार की हैं। डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आधुनिक युग में व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली

सुनिश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन करना निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली कहलाती है। निर्णयात्मक प्रणाली शासन विधान के नियमों की भाँति साहित्य के नियमों को भी बहिर्गत स्रोतों से उद्भूत मानती है। एक लेखक के लिए इन नियमों का पालन उसी प्रकार अनिवार्य होता है जिस प्रकार साधारण नागरिकों को शासकीय विधानों का पालन करना पड़ता है। इसमें उन तत्वों का मूल्यान्वेषण किया जाता है, जिनसे प्रभाव ग्रहण करके ही किसी कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा विकसित होती है। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य निर्णय करना है। यह पाठकों को यह निर्णय करने में सहायता देती है कि कौन कवि श्रेष्ठ है, कौन नहीं। लांजाइनस ने कला और साहित्य में उच्च विचारों, अलंकारों के समुचित प्रयोग, पद रचना, वाक्य शैली, एवं चमत्कारिता द्वारा उत्पन्न आनन्दपूर्ण प्रभावाभिव्यंजकता को विशेष मानदण्डों के रूप में स्वीकार किया है। रोम में सिसरो और क्विंटीलियन द्वारा भी साहित्य के बाह्य पक्षों पर अधिक आग्रह प्रकट किया गया। भारतीय काव्यशास्त्र में भामह, दण्डी, वामन, रूद्रट, कुन्तक, राजशेखर, मम्मट आदि आचार्यों ने भी रस, अलंकार, छन्द, पिंगल, रीति, गुण, काव्य प्रयोजन एवं काव्य गुणों आदि पर बल देकर काव्य सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार आलोचना के मानदण्ड यूरोप और भारत में शास्त्रीय सिद्धान्तों पर ही आधारित हो गए, जिनके फलस्वरूप काव्य के कलापक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और भावपक्ष उपेक्षणीय समझा जाने लगा।

अरस्तू ने यह कहा था कि कला शब्द, नियम आदि के ऊपर ही निर्भर न रहकर अन्य सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक गुणों पर निर्भर रहती है। कला की समीक्षा वास्तव में इन्हीं गुणों के आधार पर होनी चाहिए। अरस्तू के

मतानुसार वही आलोचना सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें कला के माध्यम से ही कला की परख की जाती है । मोटे रूप से देखा जाय, तो इस आलोचना प्रणाली का प्रमुख कार्य यह है कि वह किसी रचना अथवा लेखक के सम्बन्ध में यह निर्णय करे कि वह श्रेष्ठ है या नहीं । यह निर्णय कला के अन्यान्य नियमों की सहायता से करने का प्रयत्न किया जाता है । ये जो ये नियम वैज्ञानिक होते हैं, न नैसर्गिक । वरन् ये नियम कला पर बाह्य रूप से आरोपित किए गए प्रतीत होते हैं । इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि आलोचक स्वयं अपने कुछ मानदण्ड बना लेता है । उसके ये मानदण्ड किन्हीं स्वतन्त्र विचारधारा या सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर निर्मित नहीं होते, वरन् प्राचीन साहित्यकारों की प्रमुख विशेषताओं के उल्लेखनीय सूत्रों पर आधारित होते हैं । यदि आलोचक को किसी कवि की रचना की आलोचना करनी है तो वह प्राचीन कवियों कालिदास, सूरदास, तुलसीदास एवं मीरा आदि के साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को एक स्थान पर एकत्रित कर लेगा, जिनके आधार पर वे सभी महान एवं श्रेष्ठ कवि हो सके थे । इन विशेषताओं के निष्कर्ष से श्रेष्ठ कवि एवं काव्य साहित्य के सम्बन्ध में आलोचक कुछ मानदण्ड बना लेता और काव्य की आलोचना उसी आधार पर करके अपने निर्णय देता । यही निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का वास्तविक स्वरूप है ।

इस आलोचना प्रणाली को स्वीकार करनेवाले आलोचकों के दो वर्ग हैं । एक वर्ग परंपरागत आलोचकों का है, जो इस बात में विश्वास रखता है कि जो कुछ भी प्राचीनकाल में साहित्य रचा गया है और प्राचीन साहित्यकार हुये हैं, वही श्रेष्ठ हैं, अद्वितीय हैं । भविष्य में अथवा वर्तमान काल में न तो उतने श्रेष्ठ साहित्य की रचना हो ही सकती है और न उतने अद्वितीय साहित्यकार ही हो सकते हैं । ऐसे आलोचकों के अनुसार अब पुनः 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की रचना नहीं हो सकती, दूसरा 'मेघदूत' नहीं लिखा जा सकता अथवा कोई अन्य 'रामचरित मानस' नहीं लिखा जा सकता । प्रश्न यहाँ स्वभावतः यह उठता है कि फिर क्या वर्तमान काल अथवा भविष्य में ऐसी श्रेष्ठ रचनायें नहीं रची जा सकेंगी ? या यदि रची जा सकेंगी, तो उनकी रचना का आधार क्या होगा ? इस वर्ग के आलोचकों ने इसका उत्तर अत्यन्त विचित्र ढंग से दिया है । उनके अनुसार, वर्तमान काल अथवा भविष्य के साहित्यकारों को इन प्राचीन साहित्यकारों का अनुसरण करना पड़ेगा । उनके द्वारा अपनाये गये मार्ग के अवलम्बन से ही श्रेष्ठ साहित्य की

रचना सम्भव हो सकती है। पर दूसरा वर्ग इस रूढ़िगत परंपरागत आलोचकों की मान्यताओं से सहमत नहीं हुआ। इस वर्ग के अनुसार प्राचीन साहित्य-कारों का स्थान अद्वितीय तो है, साथ ही उनके द्वारा रचा गया साहित्य भी श्रेष्ठ है, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भविष्य में 'अभिज्ञानश कुन्तलम्' 'मेघदूत' या 'रामचरित मानस' की रचना नहीं हो सकती और न इसका तात्पर्य यही है कि कालिदास और तुलसीदास फिर से जन्म नहीं ले सकते। इस सम्बन्ध में यह वर्ग निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता। यह वर्ग यह तो स्वीकार करता है कि इन साहित्यकारों के मार्गों का अनुसरण करना तो चाहिए, पर यह नहीं स्वीकार करता कि बिना उसके श्रेष्ठ साहित्य की रचना संभव ही नहीं है। इस अनुसरण के साथ यह वर्ग यह भी मानता है कि सौन्दर्यपूर्ण सिद्धान्तों का भी समन्वय किया जाना चाहिए, तभी श्रेष्ठ आलो-चना सम्भव हो सकती है.

निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का बड़ा दोष तो यह हुआ कि उसने साहित्यालोचन के क्षेत्र में जीवन, युग, वातावरण एवं समकालीन परिस्थितियों के परीक्षण आदि की ओर से आलोचकों का ध्यान हटा दिया और उन्हें साहित्य के कलापक्ष तक ही अधिकांश रूप में सीमित रहने के लिये बाध्य किया। वास्तव में कलात्मक आलोचना प्रणाली के बाद ही निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का प्रारम्भ होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता है तो उस दिशा में होनेवाले निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं होगा।[1] जो भी हो साहित्य के कलापक्ष की ओर ही ध्यान देने के कारण यह आलोचना प्रणाली एकांगी हो जाती है। कलापक्ष की ओर ही ध्यान दिये जाने का कारण इन आलोचकों ने यह बताया कि युगीन परिस्थितियाँ और युग सत्य तथा चेतना निरन्तर परिवर्तनशील है। भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल में क्रम से निरन्तर युगीन परिस्थितियाँ विभिन्न स्वरूप ग्रहण करती रही हैं। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण उन्हें साहित्य का स्थायी मानदण्ड नहीं स्वीकार

1 "In the interest of judicial criticism itself we have to recognize that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation. . no judicial criticism can be of any value which has not been preceded by the criticism of interpretation."
—मौल्टनः द मार्डन स्टडी ऑव लिट्रेचर

किया जा सकता और इसलिये इन आधारों पर साहित्यालोचन भी नहीं किया जाना चाहिए। हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं ने इस आलोचना का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया था और आधुनिक काल में तो निर्णय देने की जैसे एक समस्या सी प्रवृत्ति ही आलोचकों में बन गई है। जब तक कोई आलोचक आज फतवे नहीं देता, तब तक वह अपने आलोचक धर्म को अपूर्ण समझता है। आधुनिक काल में निर्णयात्मक आलोचना का प्रचलन खूब हुआ है।

नैसर्गिक आलोचना प्रणाली

इस आलोचना प्रणाली में आलोचक को नियमों अथवा सिद्धान्तों का पालन नहीं करना पड़ता और उसे पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। एक प्रकार से यह अपनी व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि पर ही किसी कृति की समीक्षा करता है। कोई कृति उसे बहुत अच्छी लगती है, इतना ही पर्याप्त है और इसीलिए वह रचना आलोचना की कसौटी पर श्रेष्ठ ठहराई जाती है। वह रचना आलोचक को क्यों अच्छी लगती है और उसकी तुलना में दूसरी रचनाएँ क्यों बुरी लगती हैं, इसका उत्तर देने के लिए आलोचक बाध्य नहीं होता है। वह तो बस इतना कह कर बात समाप्त कर देता है कि अमुक रचना ने उस पर गहरा प्रभाव डाला है और उसकी मनःस्थिति को झकझोर दिया है। इसीलिये वह उस रचना को अन्य रचनाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहराता है क्योंकि उसी श्रेणी की दूसरी रचनाएँ उसे उस सीमा तक नहीं प्रभावित कर पातीं, जिस सीमा तक उस पहली रचना ने उसे प्रभावित किया है। इस प्रकार आलोचक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह आलोचना में प्रचलित अन्य प्रणालियों से अपना परिचय रखे और उसके आधार पर अपनी समीक्षा पद्धति का निर्धारण करे। इन पचड़ों में वह पड़ना नहीं चाहता और स्वच्छन्दता की सीमाओं में विचरण करना चाहता है। साहित्यकार का भावपक्ष किस प्रकार है, रचनाकार ने कौन सा संदेश अपने पाठकों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। उस संदेश की उपयोगिता क्या है, युगीन जीवन, परिस्थितियों एवं वातावरण का चित्रण उसकी रचना में किस स्तर पर हुआ है और इन सबके प्रति कलाकार की ईमानदारी और सरसता कितनी रही है; अथवा साहित्य का कला पक्ष किस स्तर का है, भाषाशैली और कलात्मकता का निर्वाह किस प्रकार हुआ है, यदि काव्य

पुस्तक है तो-अलंकार, रस, छन्द और पिंगल आदि के प्रयोग से सौन्दर्य बोध की वृद्धि किस स्तर पर हुई है और यदि उपन्यास, नाटक आदि की पुस्तक है तो पात्र किस प्रकार के हैं; उनका चरित्र-चित्रण किस प्रकार किया गया है, कथानक शिल्प आदि का निर्वाह किस प्रकार हुआ है, आदि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न होते हैं, जिनकी ओर आलोचकों का ध्यान बिलकुल नहीं जाता। इनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह अपनी रुचि की और रचना के पढ़ने वाले प्रभाव की माप करता है। यही नैसर्गिक आलोचना प्रणाली है।

परिचय-प्रधान आलोचना प्रणाली

पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः पुस्तक-समीक्षा का एक स्तम्भ होता है। जिसमें किसी कृति की विशेषताओं एवं अभावों का विवरण दिया रहता है। यह परिचय-प्रधान आलोचना ही कहलाती है। 'समालोचक' (जयपुर), माधव मिश्र का 'सुदर्शन' (बनारस) तथा "सरस्वती' (१९०४) आदि पत्रों के माध्यम से इस परिचय-प्रधान आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। यह आलोचना का श्रेष्ठ रूप नहीं है और इसमें गंभीरता की ही प्रधानता रहती है। इसका सम्बन्ध पत्रकारिता से अधिक होने के कारण इस प्रकार की आलोचना पद्धति पर पत्रकारिता की शैली का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें परिचय की प्रधानता रहती है। आलोचना तो नाम मात्र की होती है। आलोचक प्रमुख रूप में इस कृति का परिचय पाठकों को और साहित्य क्षेत्र को करा देता है। आज कल परिचय-प्रधान आलोचना प्रणाली का अत्यन्त दूषित रूप प्रचलित हो गया है। पत्र-पत्रिकाओं में उन्हीं पुस्तकों की 'समीक्षा' की जाती है, जो उस पत्र के संपादक के मित्रों या हितैषियों या उसके वर्ग के लेखकों द्वारा लिखी जाती हैं। इसमें खूब प्रशंसा झोंकी जाती है, बेसिर-पैर की बातें की जाती हैं, और विश्व की श्रेष्ठ कृतियों के समान स्तर पर रख कर उसके रचनाकार को महान् ठहराने का प्रयत्न किया जाता है। इसका एक दूसरा रूप भी तब प्रचारित होता है जब संपादक महोदय को अपने विरोधी वर्ग के लेखक को गालियाँ सुनानी होती हैं। इस प्रणाली में तर्क-बुद्धि का कोई स्थान नहीं होता और जो मन में आता है कह दिया जाता है। इस दृष्टि से यह नैसर्गिक आलोचना प्रणाली के निकट ठहरती है। एक प्रकार से किसी रचना के सामान्य परिचय के लिए यह प्रणाली यथेष्ट है।

तुलनात्मक आलोचना प्रणाली

इस प्रणाली में कवियों और लेखकों की रचनाओं की तुलना अन्य भाषा और साहित्यों की कृतियों से अथवा उसी भाषा और साहित्य के दूसरे कवियों और लेखकों से की जाती है और उनकी विशेषताओं एवं अभावों की समीक्षा की जाती है। दो कवियों अथवा लेखकों की परस्पर तुलना से पाठकों के मन में किसी कवि अथवा लेखक की श्रेष्ठता एवं महानता का स्पष्टीकरण किया जाता है। इससे श्रेष्ठता सम्बन्धी प्रचलित भ्रान्तियों के निराकरण में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रणाली में तुलना के आधार पर एक कवि अथवा लेखक को न्यून महत्व का और दूसरे को उससे श्रेष्ठ महत्व का सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। इस आलोचना प्रणाली में संतुलित दृष्टि का तुलना करते समय, होना अत्यन्त आवश्यक होता है। यदि आलोचक अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं कर पाता, तो कभी आलोचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। उदाहरण के लिए देव और बिहारी की आलोचना में हिन्दी में जो विवाद खड़ा हुआ था उसका मूल कारण यह था कि सम्बन्धित आलोचकों में पूर्वाग्रहों की सशक्तता थी। उन्होंने पहले ही यह मान लिया था कि उन्हें या तो देव को श्रेष्ठ सिद्ध करना है, या बिहारी को। यही प्रवृत्ति इस आलोचना के न्याय-संगत एवं तर्क-संगत रूप को कलुषित कर देती है, क्योंकि यह तो निश्चित है कि यदि आलोचक के मन में किसी कवि अथवा लेखक को श्रेष्ठ सिद्ध करने की भावना पहले से ही बनी हुई है, तो वह कला एवं रचना प्रक्रिया को गौण स्थान प्रदान करेगा। किसी रूप अथवा शैली पर कलाकार विशेष द्वारा डाले जाने वाले प्रभाव का अन्वेषण करना इस आलोचना प्रणाली का मूल उद्देश्य है। इसमें व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिए आलोचक को विभिन्न कालों की युगीन चेतना, साहित्यिक प्रवृत्तियों, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास सूत्रों का आकलन एवं चिन्तन करना पड़ता है। जब तक आलोचक का ज्ञान विशद एवं व्यापक धरातल पर निर्मित नहीं होगा, वह इस प्रकार की आलोचना करने में सफल नहीं हो सकेगा और न आलोचना के साथ न्याय ही कर सकेगा। साहित्य अभिव्यंजना का केवल साधन मात्र नहीं है, वरन् मानवीय भावनाओं एवं विचारों का भी वह प्रतिनिधित्व करता है, जिससे वह सामाजिक चेतना का प्रतिबिम्ब बन जाता है। यह आलोचना प्रणाली यह स्वीकार करती है कि

हिन्दी में इस आलोचना प्रणाली का प्रारम्भ श्रेष्ठ ढंग से आचार्य पद्मसिंह शर्मा कृत 'बिहारी सतसई की आलोचना से प्रारम्भ हुआ और आज तो इसका प्रयोग खूब होता है, पर तुलना करते समय जो बात सबसे अधिक ध्यान में रखने की है कि तुलना के लिए चुने गए दोनों लेखकों और रचनाओं का क्षेत्र एक हो, प्रवृत्तियाँ एक हों और विषयवस्तु में मूलभूत समानता हो, इसकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है, इसलिए आज होने वाली तुलनात्मक आलोचना बड़ी हलकी और हास्यास्पद प्रतीत होती है।

जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना प्रणाली में लेखकीय व्यक्तित्व का प्रमुख ध्यान रखा जाता है। इसके प्रवर्तक अंग्रेजी कवि और लेखक जॉन ड्राइडेन माने जाते हैं। इस आलोचना प्रणाली में समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कलाकार के व्यक्तित्व की माप की जाती है। इसका प्रारम्भ कवियों की जीवनी एवं आलोचना लिखने के संदर्भ में प्रारंभ हुआ। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के मुख्य दोष का परिहार कर कुछ अंशों में समाहार हो गया, जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा की जाती थी। इन आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि जब तक किसी कवि या लेखक के जीवन वृत्तान्तों से हम पूर्णतया परिचित न हों तब तक आलोच्य कृति के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि या लेखक जो जीवन जीता है उसका प्रभाव उसकी रचनाओं पर गहनतम रूपों में पड़ता है। प्रेमचन्द के जीवन की कथा, उनकी आर्थिक विषमताएँ, उन्होंने जिस शोषण वृत्ति एवं अभिशाप को सहन किया था और अनमेल विवाह की जिस विभीषिका से गुजरे थे उनका साहित्य इन तथ्यों से अछूता न रह सका। अतः जीवन वृत्तान्तीय आलोचकों के अनुसार जब तक इस जीवन से सम्बद्ध परिस्थितियों एवं वातावरण का प्रामाणिक अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक की गई आलोचना एकांगी एवं दोषपूर्ण होती है। इस प्रकार इस आलोचना प्रणाली में कला तथा कलाकार की विषमतापूर्ण परिस्थितियों का समाहार होता और उनका समाधान समन्वयात्मक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है। इस आलोचना प्रणाली के माध्यम से कलाकार और पाठक वर्ग के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाता है और कलाकार का वास्तविक स्वरूप उपयोगी ढंग से प्रस्तुत हो पाता है।

प्रायः लेखक इस बात की घोषणा करते हैं कि उनकी पुस्तकों का सम्बन्ध उनके व्यक्तिगत जीवन से जोड़ने में कोई सार नहीं है। ऐसी धारणा असंगत होती है। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जो कुछ वे जीते हैं, भोगते हैं, कुंठा, अवसाद, हर्ष एवं उल्लास की जिन परिस्थितियों में वे बनते-बिगड़ते हैं, टूटते-बिखरते हैं, उनके साहित्य का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यह आलोचना प्रणाली लेखकों के इस दावे और घोषणा की परीक्षा कर उसका पर्दाफाश करती है। वह कलाकार के व्यक्तिगत जीवन की यथार्थता से पाठक वर्ग को परिचित कराकर इस बात का निर्णय करता है कि उनके द्वारा रचा गया साहित्य कुछ और नहीं; उनके द्वारा जीये जाने वाले जीवन से घनिष्ट-तम रूप में प्रभावित है और उसके संस्पर्श से अपने को बचा सकने में वह नितान्त रूप से असमर्थ रहा है। इस प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि रचनाकार और सृजन प्रक्रिया में कोई तात्विक अथवा मौलिक भेद नहीं है, दोनों ही एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं।

जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली की सेन्ट ब्यूव ने और भी तर्क संगत ढंग से व्याख्या की है। उनके मतानुसार कलाकार जीवन का उसकी रचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है। लेखक के चारों ओर के परिवेश, उसकी परिस्थितियों एवं जीवन चरित्र का विश्लेषण, निरीक्षण एवं व्याख्या तथा उसकी रचना पर पड़े प्रभाव के विश्लेषण द्वारा किसी कृति का मूल्यांकन करना इस आलोचना प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य है, क्योंकि व्यक्ति विश्लेषण का अर्थ कृति का विश्लेषण ही होता है—यह आलोचना प्रणाली ऐसा स्वीकार करती है। जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली का स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन भारतीय आलोचना प्रणाली के अन्तर्गत किसी कवि के सत्संग, देश काल, वाग्-विदग्धता आदि का वर्णन एक प्रकार से इसी जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली का स्वरूप है। भक्तिकाल और रीति काल के अनेक कवियों यथा सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, केशव, मतिराम तथा भूषण आदि का अध्ययन इसी आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार इस आलोचना प्रणाली के तीन प्रमुख सोपान होते हैं : रचनाकार जिस देश काल में जीता है, उस देश काल से निरपेक्ष साहित्य का सृजन संभव नहीं है; रचनाकार का जीवन और उसकी रचना प्रक्रिया दोनों परोक्ष रूप से अथवा अपरोक्ष रूप से एक दूसरे को व्यक्त करते हैं; तीसरे इस आलोचना प्रणाली में पाठक रचनाकार के व्यक्ति-गत जीवन में भाग लेकर उसकी अनुभूतियों को आत्मसात कर उसकी रचना को

अधिक निकटता, सहृदता एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से समझ सकेगा। इस आलोचना प्रणाली की वैज्ञानिक स्तर पर कुछ सीमाएँ भी हैं। यदि रचनाकार का व्यक्तिगत जीवन विशेषताओं से सम्पन्न और स्पष्ट तथा प्रशंसनीय होगा, तब तो वह पाठकों की सहानुभूति सहज ही प्राप्त कर लेगा और उसकी रचना की श्रेष्ठता भी सिद्ध हो जाएगी, पर यदि लेखक का व्यक्तिगत जीवन ऐसा न हुआ तो संभव है कि वह पाठकों की सहानुभूति न प्राप्त कर सके और उसकी रचना की श्रेष्ठता न सिद्ध हो सके—चाहे वह कितनी ही कलात्मक और अनुपम क्यों न हो। इसी प्रकार इस आलोचना प्रणाली में साहित्यिक तथ्यों पर कम, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों पर अधिक बल दिया जाता है, जिससे किसी रचना का वास्तविक मूल्यांकन संदिग्ध हो जाता है, इसीलिए यह आलोचना प्रणाली एकांगी एवं अपूर्ण है।

गवेषणा-प्रधान आलोचना प्रणाली

हिन्दी में आलोचना के प्रारम्भ होने के पश्चात् इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि प्राचीन कवियों के जन्म स्थान, समय, जीवन चरित्रों, उनकी रचनाओं के प्रकाशन समय एवं रचना तिथियों तथा उन पर तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभावों की सम्यक् परीक्षा एवं अन्वेषण कर उनकी प्रामाणिकता निर्धारित की जाय—यह गवेषणात्मक या अनुसंधानात्मक कार्य गवेषणा-प्रधान आलोचना प्रणाली के अन्तर्गत ही आता है। इस आलोचना पद्धति का प्रारम्भ पाश्चात्य प्रभाव एवं पश्चिमी साहित्य के संसर्ग से ही माना जाना चाहिए। अनेक अनुसंधान केन्द्रों एवं विश्वविद्यालय में होने वाले शोध कार्य इसी गवेषणा प्रधान आलोचना प्रणाली के वास्तविक स्वरूप हैं। इस प्रणाली में अन्वेषण का बड़ा महत्व होता है, अर्थात् नये तथ्यों की खोज करना, जिनसे अभी तक साहित्य संसार अपरिचित था, और जिनके अभाव में अभी तक सम्बन्धित कवि अथवा लेखक की समीक्षा एकांगी थी। इसमें वैज्ञानिकता का बड़ा प्रभाव रहता है और प्राप्त तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रणाली की सफलता इसी में अन्तर्निहित रहती है।

शास्त्रीय आलोचना प्रणाली

संस्कृत अलंकार शास्त्र के आदर्शों के अनुसार शास्त्रीय पद्धति पर किसी कृति की आलोचना करना शास्त्र-प्रधान आलोचना कहलाती है।

पुनरुत्थान काल में ही शास्त्रीय आलोचना प्रणाली की स्थापना हुई। तत्कालीन काल में ग्रीस और रोम में काव्यात्मक प्रतिभा अपने सर्वोच्च शिखर पर थी और उनका अनुकरण कर काव्य रचना करने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से कवियों में प्रचलित हो रही थी। इस काल में मध्ययुगीन काव्य नाटक आदि की अवहेलना की गई और अरस्तू, होरेस, क्विन्टीलियन आदि को महत्व प्रदान कर उनके द्वारा स्थापित किए गए शास्त्रीय नियमों से प्रेरणा ग्रहण की गई। इस दृष्टि से अरस्तू के ग्रन्थ 'पोइटिक्स' (Poetics) का उल्लेखनीय स्थान है। इस प्रकार प्राचीन रचनाओं से प्रेरणा एवं आदर्श का अनुकरण कर काव्य मीमांसा संबंधी ग्रन्थों की रचना हुई, जिसके फलस्वरूप शास्त्रीय परंपराओं का अनुगमन करने और उसी के आधार पर रचनाओं के मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। काव्य में, इस प्रवृत्ति के अनुसार कलापक्ष पर विशेष ज़ोर दिया जाने लगा और उक्ति-वैचित्र्य, रस, अलंकार, छन्द, पिंगल, शब्द चमत्कार, वाक्य योजना आदि बाह्य पक्षों को ही काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी स्वीकार कर लिया गया और उन्हीं के आधार पर रचनाओं की श्रेष्ठता का निर्धारण किया जाने लगा। इस प्रणाली का आलोचक काव्यात्मक मूल्यों को बाह्य पक्षों पर आधारित करके ग्रहण करता है।

भारतवर्ष में शास्त्रीय आलोचना पद्धति का प्रचार एवं प्रसार अत्यन्त प्राचीन काल से ही है। उस समय स्थापित किए गए साहित्यशास्त्र संबंधी नियमों के अनुसार उनसे प्रेरणा प्राप्त कर ही कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। हिन्दी में इस आलोचना पद्धति के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं को है। इस आलोचना पद्धति के अन्तर्गत महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'विक्रमांकदेव चरित-चर्चा', 'नैषध चरित' या मिश्रबन्धुओं की 'हमीरहठ' की आलोचना मुख्य है। पश्चिम में इसे क्लासिकल आलोचना पद्धति भी कहा गया है। वहाँ श्रेष्ठ लेखक को निःसंकोच क्लासिकल लेखक और उसकी रचनाओं को क्लासिकल रचनाएँ कहा जाने लगा। बाद में इस अर्थ का और प्रसार हुआ और उन लेखकों को भी इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाने लगा, जिनमें प्राचीन गौरव, मर्यादा एवं संस्कृति का चित्रण होता था। इस प्रकार के लेखकों में मन, बुद्धि, भाषा और शैली का श्रेष्ठ एवं प्रौढ़ रूप का होना अनिवार्य माना गया।[1] जिन

१ टी०एस०इलियट : व्हाट इज क्लासिक, (प्रथम संस्करण), लन्दन, पृष्ठ१६

लेखकों में इन विशेषताओं का अभाव होता था, उन्हें क्लासिकल की श्रेणी से बहिष्कृत कर दिया जाता था। इन क्लासिकल लेखकों की रचनाओं की समीक्षा जिस प्रणाली के आधार पर की जाती थी, उसे ही शास्त्रीय आलोचना पद्धति की संज्ञा दी जाने लगी। इस प्रकार की समालोचना पद्धति के विकास में अरस्तू, प्लेटो, होरेस और लांजाइनस आदि विचारकों का उल्लेखनीय स्थान है। इस आलोचना द्वारा कला पक्ष पर अधिक बल दिए जाने के कारण आलोचना रूढ़िमुक्त शास्त्रीयता पर आधारित हो गई। इस आलोचना प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह हुआ है कि यह पहले ही स्वीकार कर लिया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो मान्यताएं निर्धारित कर दी थीं, वे एक प्रकार से अंतिम हैं। उनसे श्रेष्ठ कोई और मान्यता नहीं हो सकती। श्रेष्ठ साहित्य का सृजन इन्हीं मान्यताओं के आधार पर होना चाहिए। पर प्रायः ये नियम रूढ़िग्रस्त एवं संकीर्णता का परिवेश अपने चारों ओर निर्मित कर लेते हैं और उनके बावजूद भी उनका अन्धानुकरण साहित्य प्रवाह की गतिशीलता एवं प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। यह साहित्य के गौरव एवं विकास के लिए हानिप्रद एवं कलंकपूर्ण होता है।

सिद्धान्त प्रधान आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना प्रणाली में पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों के परस्पर समन्वय के आधार पर किसी कृति की आलोचना की जाती है। इन दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों की प्रमुख विशेषताओं एवं मान्यताओं के आधार पर किसी रचना की परख होती है। इस दृष्टि से बाबूराम बिस्थारिया कृत 'नवरस', कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'अलंकार प्रकाश', 'काव्य कल्पद्रुम', लाला भगवानदीन कृत 'अलंकार मंजूषा' और ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है जो भरत के रसवाद, भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट के अलंकारवाद, वामन के रीतिवाद, कुन्तक के वक्रोक्तिवाद तथा आनन्दवर्द्धन के ध्वनिवाद के सिद्धान्तों के अनुसार रचे गये हैं। पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर समालोचना करने की प्रवृत्ति जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत 'समालोचनादर्श' में दृष्टव्य होता है, जो उनका मौलिक ग्रन्थ न होकर पोप के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्यात्मक अनुवाद है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की पुस्तक 'विश्वसाहित्य' भी इसी प्रकार की पुस्तक है, जिसमें पश्चिमी समालोचनादर्श पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन

किया गया है। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने कई निबन्ध इसी आधार पर लिखे थे।

अनुभवात्मक आलोचना-प्रणाली

निरीक्षण, विश्लेषण एवं वर्गीकरण के आधार पर की गयी किसी रचना की आलोचना को अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली कहते हैं। यह आलोचना की सबसे पुरानी प्रणाली है। इस प्रणाली के अनुसार यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि प्रत्येक रचना का वैज्ञानिक मूल्यांकन संभव है, जिसका अनुगमन कर आलोचना साहित्यिक नियम विधानों का निर्माण कर सकती है, परन्तु इस प्रणाली के अनुकरण में सबसे प्रमुख कठिनाई यह अनुभव की गई कि वैज्ञानिक प्रयोगों में तो स्थायित्व हो सकता है, पर साहित्य के क्षेत्र में यह स्थायित्व संभव नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में किसी को बहसने की गुंजायश नहीं होती। वहाँ दो और दो मिलकर हमेशा चार ही होंगे, तीन नहीं। पर साहित्य के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी धारणाएँ एवं मान्यताएँ होती हैं, जिसके आधार पर ही व्यक्तियों के मध्य परस्पर भिन्नता प्रतिपादित की जाती है। अपनी इन्हीं भिन्न मान्यताओं एवं धारणाओं के आधार पर किसी रचना के सम्बन्ध में ही कोई अपना निर्णय देगा।

रचनात्मक आलोचना प्रणाली

जब आलोचक किसी रचना विशेष को अपनी अनुभूति के स्तर पर लाकर एक सर्वथा भिन्न और नवीन रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है, जिसमें आलोचक का व्यक्तित्व आलोचना के साथ प्रतिबिंबित होता है, तो उसे रचनात्मक आलोचना (creative criticism) कहते हैं। मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार रचनात्मक साहित्य ही वस्तुतः जीवन की आलोचना है। आलोचक को अपने अध्ययन एवं वस्तुओं को यथार्थ रूप से परखने की दृष्टि की क्षमता से ऐसी विचारधारा को जन्म देना चाहिए और उसका इतना प्रसार करना चाहिए कि रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना, साथ ही नवीन जीवन तत्व प्राप्त हो। टी० एस० इलियट के अनुसार रचना और आलोचना में कोई मौलिक भेद नहीं है और साहित्य के क्षेत्र में वे एक दूसरे के पूरक हैं। एक ही व्यक्ति के व्यक्तित्व में उसने रचना और आलोचना-दोनों की ही संभावनाएँ परिलक्षित कीं। किसी कलात्मक कृति की रूप संबंधी व्यवस्था तभी संभव हो सकती है, जब कलाकार में रचनात्मक प्रतिभा भी हो।

इस आलोचना प्रणाली की मान्यता है कि कोई भी कवि या लेखक तभी महान् बन सकता है, जब वह महान् आलोचक भी हो। 'कला' रचनात्मक प्रक्रिया में आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर्निर्माण में रचनात्मक होती है।[1] इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ तभी से हुआ, जब से आलोचकों के अन्दर यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि रचना और रचनात्मक मन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हो। कलात्मक रचना की आधारशिला व्यक्तित्व पर आधारित है। जीवन वस्तु को कला रूप में परिणत करने का कार्य व्यक्तित्व करता है। व्यक्तित्व और बुद्धि में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस बुद्धि से कल्पना परे नहीं है। इन सबके समन्वय से व्यक्तित्व की कार्य-प्रक्रिया दक्षता से सम्पन्न होती है और तभी रचना संभव होती है।

रचनात्मक आलोचना प्रणाली के अनुसार आलोचक बाह्य जगत और अन्तर्गत का निरीक्षण करता है। कवि में भाव ग्रहण करने की अनुपम शक्ति होती है और वह इस सृष्टि में प्रत्येक बातों का अनुभव वासना रहित मन से करता है। वह पूर्वाग्रहों अथवा दुराग्रहों से पूर्णतया मुक्त होता है। बाह्य जगत तथा अन्तर्जगत के निरीक्षणोपरान्त वह जो भी अनुभव प्राप्त करता है, उसका चिन्तन एवं मनन करता है। इससे कवि में अन्तर्वेगीय उत्कर्षण की अनुभूति होती है। यह स्थिति रचना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। इसी स्थिति में रचना के विभिन्न स्वरूप प्रस्फुटित होते हैं। दूसरे शब्दों में इसे आन्तरिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, जिससे रचनात्मक क्रिया संभव होती है। फ्रायड के अनुसार कलात्मक रचना का सृजन स्नायु व्यतिक्रम के परिणामस्वरूप होता है। स्नायु व्यतिक्रम की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति और समाज के बीच उत्पन्न हुए संघर्ष से कोई व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाता। फ्रायड के अनुसार मन के तीन स्तर हैं—अचेतन; अहंकार; और आदर्शाहंकार। अचेतन में आद्य प्रेरणाएं संग्रहीत होती हैं। अहंकार अचेतन का वह अंश है, जो सृष्टि के संपर्क से अलग अस्तित्व में गतिशील होता है और किसी को उसके व्यक्तित्व का आभास प्रदान करता है। किसी रचना की रूप व्यवस्था का आविर्भाव अहंकार से होता है। आदर्शाहंकार सेन्सर का काम करता है। इससे आध्यात्मिक भावनाएं एवं नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों का जन्म होता है, जिनकी पृष्ठभूमि में किसी रचना की आलोचना होती है। इस प्रकार पाश्चात्य कला

मीमांसकों के अनुसार रचनात्मक प्रक्रिया चेतन और अचेतन क्रियाओं का समन्वित रूप है, जिस पर मनोविश्लेषण का गहन प्रभाव है।

रचनात्मक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक किसी रचना की आलोचना करते समय पहले यह जानने का प्रयत्न करता है कि लेखक ने अपनी रचना प्रक्रिया का आधार स्वरूप कहाँ से प्राप्त किया है। इस निष्कर्ष को निकाल कर वह अपनी चेतना में उसे बिठाता है और उस पर मनन एवं चिंतन करता है और तब जो निष्कर्ष अन्तिम रूप से निकलता है, उसे अपने सामने रखता है। उसकी विशेषताएँ एवं अभाव उसके सामने होती हैं। अब वह यह विचार करता है कि इस रचना में ऐसा और क्या संयुक्त कर दिया जाए कि इसकी विशेषताएँ और भी बढ़ जाएं। साथ ही उसकी न्यूनताओं का परिहार भी हो सके। दूसरे शब्दों में वह उस रचना का स्वरूप और भी संतोषजनक बनाने और उसे श्रेष्ठ साहित्य के रूप में परिवर्तित करने के प्रति प्रयत्नशील होता है। वह उस रचना को एक सर्वथा नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न करता है; अर्थात् वह रचना का एक प्रकार से पुनर्निर्माण करता है। यही वस्तुतः रचनात्मक आलोचना कहलाती है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक यह सुझाव रचनाकार को देता है कि उसे अमुक बातें इस सन्दर्भ में न कह कर इस सन्दर्भ में और इस रूप में कहनी चाहिए थीं। यदि वह ऐसा करता तो उसकी रचना का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाता और वह श्रेष्ठ कृति का रूप धारण कर लेता।

रचनात्मक आलोचना में विश्वास रखने वाला आलोचक भी वस्तुतः कलाकार होता है और रचनात्मक कलाकार से मात्र चयन की ही दृष्टि से भिन्न होता है। रचनात्मक कलाकार जीवन और प्रकृति से सम्बन्धित दृश्यों का मनन-चिंतन करके अपनी रचना प्रक्रिया में दत्तचित्त होता है। आलोचक उस रचनात्मक कलाकार की प्रक्रिया का मनन एवं चिंतन करता है। दोनों के ही मनन एवं चिन्तन काल्पनिक पृष्ठभूमि पर होते हैं। इस आलोचनात्मक प्रणाली में किसी रचना का वैसे ही मूल्यांकन किया जाता है, जैसे किसी कलाकार के जीवन का। रचनात्मक आलोचना प्रणाली में किसी कृति का स्वतन्त्र रूप से अवलोकन होता है। इसमें आलोचक की दृष्टि मुख्यतया कृति के पुनर्निर्माण की ओर रहती है। इस आलोचना प्रणाली में निर्णय, रूढ़ि, अलंकार, नैतिकता, विषयों की सीमितता आदि को कोई महत्व नहीं दिया जाता, क्योंकि आलोचक का ध्यान इन विषयों की ओर न होकर रचना

के पुनर्निर्माण की ओर रहता है। इस प्रकार रचनात्मक आलोचना प्रणाली का प्रधान उद्देश्य होता है कि कवि या कलाकार के मानसिक बिम्ब और उसके कार्य में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना तथा जिस मूल चेतना ने कवि या कलाकार की भावनाओं को प्रेरणा प्रदान की थी और उसकी कलाकृति में वह सब कहाँ तक मुखरित हो पाया है—उसे स्पष्ट करना। उसके कोई नियम विधान नहीं होते। इस प्रणाली की यह कहकर आलोचना की जाती है कि दुरूह मनोवैज्ञानिकता लिए आधुनिक रचनाओं की समीक्षा करने में कदाचित् यह प्रणाली सफल न हो सकेगी। इससे केवल प्राचीन सरल हृदय कवियों के आदर्शों का मूल्यांकन करने में ही सहायता प्राप्त हो सकती है।

वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली

इस आलोचना का जन्मदाता फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियर माना जाता है उसने विज्ञान के निश्चित एवं अपरिवर्तित नियमों की भाँति आलोचना के भी नियमों को भी निर्धारित किया। इस आलोचना प्रणाली के समर्थकों ने साहित्य का विभाजन अनेक वर्गों में किया। उनके कार्य-कारण के परस्पर संबंधों का अनुसंधान करने का प्रयत्न किया गया तथा शब्दों के धातु रूप का निश्चय किया गया। इस आधार पर मनोविज्ञान तथा मनस्ताप शास्त्र के सिद्धान्तों के समीक्षा करने का प्रयास प्रारम्भ किया गया। दूसरे शब्दों में इस आलोचना प्रणाली ने दवाइयों के एक मिक्स्चर की भाँति साहित्यिक मिक्स्चर तैयार कर दिया, जिसके आधार पर आलोचकों को रचनाओं के सम्बन्ध में निर्णय कर देने का निर्देश दिया गया। अब देखना यह है कि यह मिक्स्चर है क्या ? इस प्रणाली के अनुयायियों का कथन है कि किसी कृति के जितने ही अधिक संस्करण होंगे, वह कृति उतनी ही श्रेष्ठ होगी। अर्थात यदि किसी कृति के बीस संस्करण होते हैं और किसी के मात्र पाँच, तो बीस संस्करण वाली कृति असंदिग्ध रूप से श्रेष्ठ होनी चाहिए। अज्ञेय कृत 'शेखर: एक जीवनी' के उतने संस्करण नहीं हुए हैं जितने आज 'केवल बालिगों के लिए' लिखे जाने वाले और अटैचियों में कपड़ों के नीचे रख कर इधर उधर ले जाने तथा रात्रि के एकान्त में पढ़े जाने वाले निम्नकोटि के सेक्स प्रधान उपन्यासों के हुए हैं। तो क्या इन उपन्यासों को संस्करणों के आधार पर अज्ञेय के शेखर : एक जीवनी' से श्रेष्ठ 'कलाकृतियाँ' स्वीकार कर लिया जाय ? आजकल काव्य ग्रन्थों को पढ़ने का प्रचलन कम हो गया है।

वे इस प्रणाली को स्वीकार करने के पश्चात् आज फिर कोई काव्य ग्रंथ श्रेष्ठता के पद का अधिकारी नहीं बन सकेगा।

इस आलोचना प्रणाली के समर्थक एक दूसरा तर्क यह उपस्थित करते हैं कि स्वयं पाठक भी रचनाकारों के सम्बन्ध में श्रेष्ठता का निर्णय कर क्रम से उनकी सूची बना सकते हैं; जिनसे आलोचक सहायता ग्रहण कर सकता है। यदि बहुत से पाठक आठ या दस रचनाकारों को क्रम से श्रेष्ठ साहित्यकार स्वीकार कर लेते हैं तो आलोचकों को भी उन्हें श्रेष्ठ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे हास्यास्पद तर्क कुछ और हो नहीं सकता। बहुत कम ऐसे पाठक होते हैं, जो किसी साहित्यिक रचना को पढ़ते समय साहित्यिक मूल्यों की ओर भी अपना ध्यान रखते हैं। वे किसी रचना की अच्छाई-बुराई का निर्णय अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार करते हैं, कलात्मकता एवं साहित्यिक मूल्यों पर उनका ध्यान कम ही रहता है। इस दोषपूर्ण निर्णय के आधार पर की गई समीक्षा का मूल्य निश्चित रूप से न्यून होगा। एक अन्य मत के अनुसार जो साहित्यकार युगीन जीवन, सामाजिक, सांस्कृतिक, तथा राजनीतिक परिस्थितियों का जितना ही यथार्थ चित्रण करता है वही लेखक श्रेष्ठ है, पर यह मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह बुद्धि के दिवालियापन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्लेटो के समय से ही यह प्रश्न अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है कि साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग संभव है या नहीं। विज्ञान तथा साहित्य एवं कला में अन्तर है। रिचार्ड्स ने भी, इस सम्बन्ध में काफी विचार किया है। बहुत पहले वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली का आविर्भाव हो चुका था, पर वह बहुत अधिक प्रचारित न हो सका। वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली का प्रधान उद्देश्य यह था कि आलोचक द्वारा किया जाने वाला निर्णय व्यवस्थित ज्ञान द्वारा समर्थित हो। यह प्रणाली अनर्थक एवं आवेगपूर्ण बातों की अभिव्यक्ति के विरुद्ध है। पर कोई वैज्ञानिक प्रणाली साहित्य पर ज्यों की त्यों आरोपित नहीं की जा सकती। इससे सबसे बड़ी हानि तो यह होगी कि साहित्य का स्थान गौण हो जाएगा, विज्ञान प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेगा।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना प्रणाली

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना प्रणाली (Impressionist criticism) में आत्म प्रधान समीक्षा को महत्व दिया जाता है। यह

स्वच्छन्द व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधारित आलोचना प्रणाली है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी रचना के प्रति आलोचक की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया क्या होती है, यह आलोचना उसे स्पष्ट करती है। सहज आन्तरिक प्रतिक्रिया कृति का स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और अन्त में उसका मूल्यांकन करना ही इस आलोचना प्रणाली का मुख्य उद्देश्य होता है। इस प्रणाली में आलोचना के किन्हीं प्रचलित मान्यताओं को नहीं स्वीकार किया जाता। इसमें आलोचक अपनी व्यक्तिगत रुचि को अत्यधिक आश्रय देता है। किसी रचना का जितना ही प्रभाव आलोचक पर अधिक पड़ता है, वह उसी के आधार पर किसी रचना की श्रेष्ठता का मूल्यांकन करता है। अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव की वह माप करता है और माप के उस आधार पर अपनी आलोचना का स्वरूप निश्चित करता है। इस प्रकार इस आलोचना प्रणाली में साहित्य की प्रेषणीयता को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। इसमें आलोचक के दो प्रधान कर्तव्य माने जाते हैं। एक तो यह कि आलोचक में किसी रचना की प्रेषणीयता ग्रहण करने की पूर्ण समर्थता होनी चाहिए। दूसरे यह कि वह उस प्रेषणीयता की उचित ढंग से माप कर सके, और उसे उचित ढंग से अभिव्यक्त कर दूसरों तक पहुँचा सके। सैंट्सबरी ने भी कुछ इसी प्रकार का मंतव्य इस सम्बन्ध में प्रकट किया है।[1] अर्थात् किसी रचना के प्रभाव को ग्रहण करने, अभिव्यक्त करने एवं दूसरों तक उस प्रभाव को पहुँचाने की शक्ति की श्रेष्ठता पर ही आलोचक की श्रेष्ठता निर्भर करती है।

इस समीक्षा प्रणाली में पुस्तक की साहित्यिक विशेषताओं, उसकी कलात्मकता एवं गुणों की अपेक्षा आलोचक के ऊपर पड़े हुए प्रभावों एवं उसकी आत्मानुभूतियों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। स्पिनगार्न के शब्दों में समीक्षा का यही नितान्त स्वाभाविक रूप होता है। उन्होंने इसी आधार पर इसका समर्थन किया है।[2] इस समीक्षा में किसी रचना

---

1 "The first requisite of the critic is that he should be capable of receiving impressions, the second that he should be able to express and import them."

—सैंट्सबरी : हिस्ट्री ऑव इंगलिश क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ४११

2 "Anatole France described the critic not as a judge imposing sentence, but as a sensitive soul detailing his adventures among masterpieces.....to have sens-

के औचित्यानौचित्य के मूल्यांकन का कभी प्रश्न ही नहीं उठता। मुख्यतया प्रश्न उठता है आलोचक के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का और समीक्षा भी उसी की होती है। इससे इस बात की आशंका उठ सकती है कि आलोचक के ऊपर जितना प्रभाव पड़े उससे वह कला की मूलात्मा को पहचान सकने में अपने को पूर्णतया असमर्थ पाये और आलोचना के साथ पूर्ण न्याय न कर पाए। दूसरी बात यह है कि किसी भी प्रभाव को ग्रहण करने और उन्हें अभिव्यक्त करने में अपूर्व क्षमता की आवश्यकता होती है। प्रत्येक आलोचक में यह क्षमता अपने स्वाभाविक रूप में हो ही, यह अनिवार्य नहीं है। इस प्रणाली में साहित्यात्मा की परख एवं उसके प्रति आकर्षण को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है, पर यह आलोचना प्रणाली उसे वास्तविक रूप में कर पाती है, यह सन्दिग्ध है। हालांकि इस आलोचना प्रणाली के समर्थकों के मन में इस प्रकार का कोई सन्देह नहीं था और इसकी सफलता एवं कार्य-क्षमता के प्रति वे पूर्ण रूप से आश्वस्त थे। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी समर्थता के अनुसार प्रभाव ग्रहण करने एवं उसे अभिव्यक्त करने का अधिकार है।[1] इससे मूल पुस्तक के आधार पर नव-सृजन होता है।

ation in the presence of a work of art and to express them, that is the function of criticism for the impressionistic critic. His attitude, he would express some what in this fashion here is a beautiful poem; to read it is for me to experience a thrill of pleasure. My delight in it itself a judgement and what better judgement is it possible for me to give? All that I can do it to tell how it effects me, what sensations it gives me."

—स्पिनगार्न : द न्यू क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ४२७-४२८

1 "Other men will derive other sensations from it and express them differently; they too have the same right as I. Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which gave us our sensations. That is the art of criticism and beyond that criticism cannot go."

—वही, पृष्ठ ४२८

इन विद्वानों के अनुसार आलोचना का चरम विकास नवीन कला कृतियों के सृजन में है। (Art can find only it alter ego in art), पर इस आलोचना प्रणाली की अनेक सीमाऐं भी हैं। इस प्रवृत्ति का आलोचक कला समीक्षा में स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाता है और किसी नियंत्रण को नहीं स्वीकार करता। प्रत्येक आलोचक अपनी-अपनी दृष्टि अपनाने के लिए स्वच्छन्दता का अनुभव करता है, क्योंकि किसी मान्यता अथवा परंपरा या नियमों का बन्धन स्वीकार करने के लिए वह बाध्य नहीं है। इससे एक ही कृति के सम्बन्ध में अनेकानेक मत उपस्थित हो जाते हैं, जिससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसमें समालोचक कोई निर्णय नहीं देता, वरन् आलोच्य कृति का मन पर पड़ने वाले प्रभाव को बुद्धिवादी रसानुभूति की प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। यही अनुचित है, और इस आलोचना प्रणाली का दोष है, क्योंकि इसमें तर्कसंगत या न्यायपूर्ण समीक्षा का स्वरूप नहीं उपस्थित हो पाता। हिन्दी में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा गुरुभक्तसिंह कृत 'नूरजहाँ' की समीक्षा में प्राप्त होता है। पं० भुवनेश्वर मिश्र कृत 'सन्तसाहित्य' में भी इस प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है।

अभिव्यंजनावादी आलोचना प्रणाली

अभिव्यंजनावाद के जन्मदाता इटली के सौन्दर्यवादी चिंतक बेनेडेटो क्रोचे हैं। उनकी धारणानुसार चरम सत्य मानस है। सृष्टि की जो शक्तियाँ विभिन्न रूप ग्रहण करती हैं उनकी आधारशिला मानस ही है मन की दो मूल वृत्तियाँ होती हैं: एक सैद्धान्तिक, दूसरी व्यावहारिक। सैद्धान्तिक रूप का क्षेत्र ज्ञान है, व्यावहारिक रूप का क्षेत्र क्रिया है। ज्ञान का आधार बुद्धितत्व नहीं है, वरन् वह स्वतः उत्पन्न है। यही स्वतः उत्पन्न ज्ञान वस्तु जगत की शक्तियों को रूप प्रदान करता है। यह मानस में मूर्ति की कल्पना करता है, जो सौन्दर्यबोध का मूल तत्व है। यह आन्तरिक अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है। क्रोचे ने अभिव्यंजना को काव्य अथवा कला के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है एवं मानस में होती है। सौन्दर्य का आधार रूप (Form) है। काव्य का एकमात्र उद्देश्य होता है कि वह सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करे। उसके सम्बन्ध में नीति अथवा उपयोगिता की बातें निरर्थक

होती है। क्रोचे यद्यपि वस्तु की पूर्ण उपेक्षा तो नहीं करता, पर उसने अपेक्षाकृत अभिव्यंजना को ही महत्व प्रदान किया है। अभिव्यंजना के निम्न चार क्रम क्रोचे ने स्वीकार किए हैं :—

१. मन: संवेदन
२. मन: संवेदनों के उद्‌बोधन से हमारी आत्मिक अभिव्यक्ति
३. सुन्दर वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न आनन्दभाव
४. सौन्दर्यबोध के तत्वों का भौतिक तथ्यों में अवतरण

स्पष्ट है क्रोचे की समस्त मान्यताएं कला मात्र से सम्बन्धित है, कलाकृति से नहीं। उसने कला और कलाकृति में अन्तर स्वीकार किया है। सहजानुभूति और अभिव्यंजना का मूल स्वरूप उसने एक ही माना है।[1] क्योंकि सौन्दर्य भावना आकृति प्रधान है। इसमें आध्यात्मिक सत्ता के तत्व सम्मिलित रहते हैं। क्रोचे ने मात्र वस्तु में रस निष्पत्ति और सौन्दर्य बोध की सत्ता अस्वीकृत की है। आकृति सौन्दर्य बोध का आधार तत्व है, पर वस्तु की सत्ता की पूर्ण उपेक्षा भी उसने नहीं की है।[2] क्रोचे के अनुसार सत्य तथा यथार्थ का केवल एक ही केन्द्र है—मानस। मानस में ही सत्य एवं यथार्थ निहित रहता है। बाह्य आकृतियां सत्य एवं यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि उनका केन्द्र हमारे मानस में नहीं है। कला सहज ज्ञान है और मानस के अन्तर्गत प्राप्त प्रभावों की अभिव्यंजना मात्र है। अभिव्यंजना ही मनोभाव का प्राण है। इस प्रणाली के अनुसार किसी रचना की समीक्षा करते समय इस बात की परख की जाती है कि वह रचना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कितने

---

1 "Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into clarity of the contemplative spirit. In this cognative process it is impossible to distinguish intuition from expression... The one is produced with the other at the same instance, because they are not two but one."
—बेनेडेटो क्रोचे : ऐस्थेटिक, पृष्ठ १४

2 "Without matter, however our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete real, this or that spiritual content, this or that definite intuition."
—वही पृष्ठ ६

अंशों में करती है। यदि कोई रचना सौन्दर्याभिव्यक्ति में असफल है, तो उस रचना को किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ रचना के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस प्रक्रिया में सौन्दर्य तत्वों (Aesthetic Elements) की भी समीक्षा की जाती है। हिन्दी में अभिव्यंजनावाद, का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह पूर्णतया पाश्चात्य प्रभावित नहीं है—उस पर भारतीयता का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। भारतीय सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा अत्यन्त व्यापक है। कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने में हमें आनन्द प्राप्त होता है। पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता: प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, पर उसमें हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति-तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया चक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।[1] इस प्रकार भारतीय सौन्दर्य में सत्य एवं मंगल का समन्वय होता है, वासना बहिष्कृत होती है। वस्तुत: काव्य का उद्देश्य ही होता है कि वह नीति-उपयोगिता-निरपेक्ष सौन्दर्य की सिद्धि करे। वस्तु के सौन्दर्य को उपेक्षणीय स्थान प्रदान कर किसी रचना प्रक्रिया में अभिव्यक्ति की सुन्दरता मात्र की परख जिस आलोचना प्रणाली के माध्यम से किया जाता है वह अभिव्यंजनावादी आलोचना प्रणाली के उद्देश्यों को पूर्ण करती है। स्पष्ट है, इस प्रणाली में आलोचक वस्तु को सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त करने में कलाकार की सफलता असफलता का मूल्यांकन करने के साथ उसके सौन्दर्य तत्वों की भी समीक्षा करता है।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना प्रणाली

फ्रायड, ऐडलर और जुंग के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों का जितना प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर पड़ा उतना ही प्रभाव आलोचना के स्वरूप पर भी पड़ा और उसी के परिणामस्वरूप मनोविश्लेषणवादी आलोचना प्रणाली का जन्म और विकास हुआ। फ्रायड के अनुसार

१ इलाचन्द्र जोशी : साहित्य सर्जना, पृष्ठ ११-१२-१३

कला सम्बन्धी मान्यताओं के तीन तत्व हैं। मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं, कामनाओं एवं भावनाओं को पूर्ण नहीं कर पाता और उसका मन एक प्रकार से अतृप्त रह जाता है। चूंकि मनुष्य इन्हें पूर्ण नहीं कर पाता, इसलिए वह इनके दमन करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य के चेतन मन द्वारा दमित-शमित ये अतृप्त भावनाएँ, इच्छाएं एवं वासनाएँ, दमित न होकर अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं, और मनुष्य को भिन्न पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती हैं, जिससे मनुष्य विभिन्न प्रकार के व्यवहार जीवन में करने लगता है। मनुष्य तो समझता है कि उसने इन भावनाओं का दमन कर दिया है, पर वस्तुतः यह उसका भ्रम मात्र होता। वे अवचेतन मन में पहुँच जाती हैं, जहाँ से वे चेतन मन के माध्यम से अभिव्यक्ति पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है, कहता है और सोचता है, उसके मूल में उसकी वासनात्मक प्रवृत्ति ही होती है। मनुष्य द्वारा इन अतृप्त आकांक्षाओं का कठोर सामाजिक बन्धनों के कारण उदात्तीकरण हो जाता है। मनुष्य की कामवासना उसकी बाल्यावस्था से ही उसके जीवन दिशाओं को गहन रूप से प्रभावित करती है। बाल्यावस्था में वासना मातृरति (Oedipus complex) रूप में प्रकट होती है, जो चरित्र निर्माण की मूल पृष्ठभूमि होती है।[1] अर्थात् बचपन में लड़कियाँ अपने पिता की ओर बालक अपनी माता की ओर अधिक स्नेह प्रकट करता है, जिसके मूल में वासना होती है। प्रौढ़ावस्था में भी माता अपने किशोर पुत्र और पिता अपनी युवती बेटी के प्रति वासनात्मक भावनाओं की प्रतिच्छाया में ही आकर्षित होता है, पर चूँकि ये वासनापरक भावनाएँ सामाजिक मर्यादा एवं जीवनगत गौरव की दृष्टि से घृणित एवं अवांछनीय हैं, इसलिए इनका दमन करना पड़ता है। बाद में इनकी अभिव्यक्ति स्वप्नों, विचित्र जीवन व्यवहारों, साहित्य एवं कला में होती है।[2] मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ पाशविक

1 "He came to see in the unconscious conflicts over the young child's sexual attitudes towards its parents which together with accompanying jealousy and hostility, he refers to oedipus complex."
फ्रायड : हिज ड्रीम एण्ड सेक्स थ्यूरीज

2 "A basic libido of sex drive (life force) which, when checked, may produce oedipus complex; distorted if

होती हैं, जो युग जीवन के साथ विकास प्राप्त करती रहती हैं। यही प्रवृत्तियाँ सभ्यता एवं संस्कृति तथा सामाजिक विकास की भी मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। साहित्य में इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ दृष्टिकोण ही अपनाने का प्रयत्न किया जाता है। अवचेतन में संग्रहीत अतृप्त वासनाओं एवं कामनाओं के उदात्तीकरण के उपरान्त निर्मित स्वरूप के कल्याणकारी पक्ष की प्रतिक्रिया ही साहित्य एवं कला है।

एडलर के अनुसार मनुष्य में अपना प्रभुत्व अधिकाधिक स्थापित करने की प्रेरणा रहती है और इसके प्रति वह प्रयत्नशील भी होता है। इस प्रयत्नशीलता में वह औचित्यानौचित्य का ज़रा भी ध्यान नहीं रखता और अपना साधारण सा विवेक भी खो देता है। यही प्रवृत्ति कलाकार में अहं की प्रधानता का कारण बनती है और किसी विशेष मतवाद अथवा विचारधारा का समर्थक बनाती है। कलाकार कला रचना में अपने जीवन के अन्य अभावों की क्षति पूर्ति के निमित्त ही संलग्न होता है। इस प्रकार एडलर के मतानुसार कला सृजन कलाकार की आत्महीनता की मानसिक क्षतिपूर्ति की प्रक्रियामात्र है, और कुछ नहीं।

जुंग के अनुसार अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी मानवीय प्रवृत्तियों का कला सृजन पर गहन प्रभाव पड़ता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले कलाकार की रचना प्रक्रिया में और बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाले कलाकार की रचना प्रक्रिया में अन्तर होंगे। यह अन्तर जैनेन्द्र और प्रेमचन्द की रचनाओं में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बहिर्मुखी था, जैनेन्द्र का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी है। प्रेमचन्द की रचनाओं में जीवन का विशाल एवं व्यापक चित्रपट चुना गया है, सामाजिक तत्वों की प्रधानता प्राप्त होती है, पात्रों का बाहुल्य है, युगीन जीवन की महत्ता है और सामाजिकता की संपूर्ण इकाई के प्रति आग्रह है। इसके विपरीत जैनेन्द्र की रचनाओं में एकांतिकता है। पात्रों की न्यूनता है। जीवन का एकपक्षीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा को उसके व्यक्तित्व की ये दो विशेषताएँ घनिष्ट रूप में प्रभावित करती हैं।

---

not broken lives. Thus it sets love (the chief topic of modern poetry, modern drama etc.) at the root of all human actions."

—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वाल्यूम १८.

मनोविश्लेषण सम्बन्धी इन सिद्धान्तों के आधार पर जिस मनोविश्लेषणवादी आलोचना प्रणाली का जन्म हुआ, उसका प्रथम प्रयोग जेम्स ने "हैमलेट" की आलोचना के माध्यम से किया था। डॉ० सॉमरसेट ने 'मैडनेस इन शेक्सपीरियन ट्रैजेडी' में शेक्सपीयर के पात्रों की आलोचना इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर की है। इस आलोचना पद्धति का मूल उद्देश्य रचना के पात्रों की मन:स्थितियों एवं अन्त:प्रेरणाओं का मनोविश्लेषण करना है। किन-किन अवस्थाओं से उन पात्रों का व्यक्तित्व विकसित होता है और उस पर कौन सी परिस्थितियाँ किन रूपों में और क्यों प्रभाव डालती हैं, यह आलोचना कला में इन्हीं तथ्यों का अन्वेषण करती है। इस आलोचना प्रणाली में नैतिकता, आदर्श अथवा सुरुचि का महत्व पूर्णतया गौण होता है और वास्तविक महत्व आन्तरिक यथार्थ एवं प्रेरणाओं को प्रदान किया जाता है इसमें कला सृजन की प्रेरणा अन्तर्मन और मानव अवचेतन स्वीकार करके समीक्षा का प्रारम्भ होता है। आलोचक यह स्वीकार करता है कि औपन्यासिक नायक अथवा नायिका के व्यक्तित्व का निर्माण लेखक के अतृप्त आकांक्षाओं एवं अपूर्ण वासनाओं के प्रस्फुटीकरण के रूप में हुआ है। इस प्रकार किसी कला कृति का सम्बन्ध कलाकार की चेतना और उसके अवचेतन मन से संयुक्त करने का प्रयत्न किया जाने लगा। कला का दमित वासनाओं से क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध, में मनोविश्लेषणवादी समीक्षक इलाचन्द्र जोशी का कथन है, "वहाँ वे ऐसी दबी पड़ी रहती हैं कि फिर आसानी से ऊपर को नहीं उठ पातीं। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेत मन को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती हैं।" ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी 'अज्ञात व्यक्ति' की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है।" कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं। समीक्षा में मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग उद्देश्यविहीन और केवल पांडित्य प्रदर्शन की आकांक्षामात्र नहीं है। ये सिद्धांत काव्य के वास्तविक स्वरूप निरूपण तथा उसे स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने की प्रेरणा देने में सहायक हैं। काव्य में अस्वस्थ वृत्तियों की प्रेरणा का उद्‌घाटन करके उसे स्वस्थ मार्ग पर ले चलना ही इस समीक्षा की उपयोगिता है।...किसी कलाकार का किसी कृति से उसके मन के भीतर के द्वन्द्व, उसकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक प्रवृत्तियों के ताड़न अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं

के आलोड़न का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानवात्मा के अन्तःपुर की ऐसी कुंजी हमें दे दी है कि अब 'स्वर्गीय' अथवा 'प्रगतिशील भावापन्न कलाकार के अन्तर में निहित वास्तविक मनोवृत्तियों का पर्दाफाश बड़ी सरलता से हो सकता है।' इस आलोचना प्रणाली के अन्तर्गत रचना प्रक्रिया का वैयक्तिक दृष्टिकोण विवशता के परिणामस्वरूप स्वीकार किया जाता है। कलाकार एक वांछित पथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है, किन्तु उसके पथ का स्वरूप निर्धारण वाह्य प्रक्रियाओं द्वारा निश्चित नहीं होता। उसका निर्धारण कलाकार के अपने जीवन की परिस्थितियों, आन्तरिक एवं वाह्य वातावरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न विवशता के माध्यम से होता है। 'कलाकार की प्रेरणा शक्ति एक विमूढ़ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।'

प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली

प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रभावित है और उन्हीं के आदर्शों का पोषण करता है। मार्क्स की विचारधारा के अनुसार किसी देश के इतिहास में ऐसा भी काल आ सकता है, जिससे कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। कला प्रक्रिया की यह दिशा सामाजिक प्रगति की दिशा से भिन्न होती है। आधुनिक आलोचकों को परंपरागत आदर्शों के आधार पर समीक्षा कार्य गतिशील करने का प्रयत्न किसी भी अवस्था में इसीलिए न करना चाहिए। मार्क्स कला के वाह्यवादी अस्तित्व को स्वीकार करता है। हमारे द्वारा रचा गया साहित्य निश्चित रूप से मानव समाज के ऊपर प्रभाव डालेगा, मानव समाज से भिन्न कला और साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं। उसका सृजन स्वप्नलोक में नहीं, युग जीवन के यथार्थवादी धरातल पर होता है। मार्क्स का विश्वास था कि मानव समाज की प्रगति में पार्थिव शक्तियां, जो मूल रूप से अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हैं, अधिक मात्रा में क्रियाशील रहती हैं। इसी की प्रतिक्रियास्वरूप अर्थशास्त्र सम्बन्धी नियमों की पूर्ण उपेक्षा न होकर सामाजिक प्रगति में उनका भी उपयोग होना चाहिए। मार्क्स मानता है कि यह समाज परिवर्तनशील है, जिसका प्रभाव कला एवं साहित्य सृजन पर भी पड़ता है। इस परिवर्तनशीलता के कला और साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि कला और साहित्य रूढ़ियों की स्थिति से मुक्त रहता है। साहित्य में रूढ़ियों

की अनिवार्य स्थिति स्वीकार की जाती है। उन रुढ़ियों को समाज की प्रगति के आवरण में आबद्ध किया जाता है या अधोगति के। यह समाज के उन्नायकों की नीतियों पर निर्भर करता है। मार्क्सवाद के अनुसार इन साहित्यिक रुढ़ियों की उपेक्षा करना अनुचित है। इन रुढ़ियों को उस सीमा तक अपनाना आवश्यक होता है, जहाँ तक वे साहित्य की प्रगतिशीलता में सहायक होती है। एक युग के साहित्यिक और मान्यतायें आगे आने वाले युग के लिए समूचे रूप में रुढ़ नहीं सिद्ध हो जाते और नहीं उसके लिए अहितकर ही होते हैं। अनेक लाभप्रद तत्व रुढ़ियों के आवरण में बंधे युग-युगों तक गतिशील रहते हैं, जिनमें सौन्दर्यबोध के स्वर एवं स्थायीतत्व होते हैं। इनकी उपेक्षा करना आलोचक के लिए तर्कसंगत नहीं है।

प्रगतिशीलता से प्रभावित इस प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति में साहित्य की श्रेष्ठता के मूल्यांकन के स्वर की माप इस आधार पर की जाती है कि वह सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति कर सकने में सफल हो पाया है या नहीं। समाज के संघर्ष को प्रोत्साहन देकर पूँजीवादी शोषण के नाश करने की प्रवृत्ति को प्रेरणा देकर एक ऐसी अर्थ व्यवस्था की स्थापना में सहायक होता है या नहीं, जिसमें समानता हो और राष्ट्रीय आय के समान वितरण करने की प्रवृत्ति को आश्रय प्राप्त होता है या नहीं, सामाजिक विकास में सहायक प्रगतिवादी प्रवृत्तियों को वह साहित्य प्रोत्साहन देता है या नहीं और अन्त में उस साहित्य में मानवीय व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है या नहीं। यदि ऐसा नहीं किया गया है तो वह साहित्य श्रेष्ठ नहीं है। प्रगतिवादी आलोचना पद्धति के ये ही प्रमुख मानदण्ड हैं। इसमें साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता है। 'मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है, जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है यह आलोचना समाज पर साहित्य के द्वारा डाले जाने वाले कल्याणकारी और अकल्याणकारी प्रभावों की माप करती है और उस कलाकृति को प्रश्रय देती है जिसका सृजन सामाजिक व्यावहारिकता के धरातल पर होता है।

कला एवं साहित्य का आधार, मार्क्सवाद के अनुसार, मूलतः आर्थिक होता है।[1] बुर्जुआ साहित्य की सत्ता और महत्ता को मार्क्सवाद पूर्णतया

1 Literature like all products of the human mind is

अस्वीकृत करता है। वह युग और साहित्य को अविच्छिन्न रूप में परखना चाहता है। वह परंपरा का कट्टर विरोध करता है। मनुष्य सामाजिक उत्पादन की क्रिया में पड़ कर ऐसे निश्चित सम्बन्ध स्थापित करने के प्रति प्रयत्नशील होता है, जो उसकी दृष्टि से अनिवार्य होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध भौतिक शक्तियों की प्रगति की निर्धारित सीमाओं के समान होते हैं। इनकी समष्टि से समाज के आर्थिक रूपविधान का निर्माण होता है। आर्थिक आधारों में परिवर्तन होते ही वह सभी का सभी रूपविधान तीव्रगति से परिवर्तित होने लगता है। ऐसे परिवर्तनशील युग के सम्बन्ध में हम उसकी अपनी चेतना के आधार पर ही कोई निर्णय नहीं कर सकते। कोई भी सामाजिक व्यवस्था उस समय तक अपना अस्तित्व नहीं खोती, जब तक उत्पादन शक्तियों की निर्धारित सीमाओं का पूर्ण विकास नहीं हो जाता।[1] इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास का निर्णयात्मक तत्व मूलतः उत्पादन ही है। यदि कोई आर्थिक व्यवस्था को ही एकमात्र निर्णयात्मक सत्य स्वीकार करता है तो वह सत्य नहीं भ्रान्तियों का प्रतिपादन करता है।[2] इस प्रकार मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि कला का सृजन मात्र आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही होता है। कम्युनिस्ट आलोचक वी० जी० जेरोम के शब्दों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जाएं, बल्कि इसलिए कि वे 'जन' के साथ जुड़ जाएं। अपने वर्ग के शत्रुओं के साथ मार्क्सवादी अपने मत वैषम्य को सामने रखते हैं। मार्क्सवादी साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जो समाज को गतिशील करता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।

---

ultimately determined by society's economic relationships; its means of material production."

—मार्क्स : लेनिनकृत ऑन आर्ट एण्ड लिट्रेचर से उद्धृत, पृष्ठ १२६

१ मार्क्स: कॉन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑव पोलिटिकल इकोनॉमी (सलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम सी) पृष्ठ ३५६-३५७

२ मार्क्स-एंजिल्स: सलेक्टेड कारसपॉन्डेन्स, (१९४२), न्यूयार्क पृष्ठ ४७५

प्रगतिवादी समालोचना इन्हीं तथ्यों को प्रश्रय देती है। इसमें वर्ण्य विषय की भांति शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने पर बल दिया जाता है। प्रगतिवादी आलोचना सीधी-सादी अकृत्रिम भाषा, चमत्कारहीन शैली तथा अलंकारहीन पर सौन्दर्ययुक्त और प्राणवान् वाक्य प्रयोग आदि पर बल देता है। कलात्मकता के स्थान पर जीवनगत भावनात्मकता को प्रश्रय दिया जाता है। यदि किसी कलाकृति में इन तत्वों का अभाव है तो उसे किसी भी रूप में प्रगतिवादी समालोचक श्रेष्ठ नहीं कहेगा। ये समालोचक किसी रचना की श्रेष्ठता जीवन शक्तियों के आधार पर स्वीकार करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रगतिवादी आलोचक जीवन के चतुर्मुखी पक्षों के साथ किसी रचना का सम्बन्ध स्थापित करता है, तत्पश्चात् इसी संदर्भ में उसका मूल्यांकन करता है। जीवन में न तो स्थिरता ही है और न अपरिवर्तनशीलता है। वह गतिशील एवं विकसनशील है। किन्तु हम अपनी प्राचीन परंपराओं को नहीं भूल पाते। इस प्रकार प्राचीनता और और नवीनता में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी के फलस्वरूप साहित्य में भी द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो वर्ग वैषम्य के रूप में भी स्पष्ट हो जाता है। प्रगतिवादी आलोचना साहित्यकार को इसी द्वन्द्व की भीषणता के प्रति आगाह कर उन्हें प्राचीनता का अनुगमन न करने की चेतावनी देती है। प्रगतिवादी आलोचना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-वैषम्य के आधार पर साहित्यकार के जीवन और साहित्य की क्रियात्मकता और गतिशीलता को उभारना चाहती है और उसी दिशा में प्रयत्नशील होती है।

५

हिन्दी आलोचना का विकास

हिन्दी समालोचना के इतिहास का यदि वर्गीकरण किया जाय तो वह इस प्रकार किया जा सकता है :—

१ प्रारम्भिक काल

२ मध्य काल

३ आधुनिक काल

यद्यपि कुछ आलोचकों ने यह वर्गीकरण अन्य दृष्टियों से भी किया है, पर किसी आलोचक के नाम से यह वर्गीकरण करना सर्वथा असंगत है। हिन्दी साहित्य अभी तक कोई ऐसा आलोचक आधुनिक काल में उत्पन्न करने में असमर्थ रहा है जो समूचे युग को अपने व्यक्तित्व में समेट सके और जिसकी मौलिकता एवं गम्भीरता एक शाश्वत सत्य के रूप में प्रतिपादित हो सके। यहाँ तक कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी ऐसा करने में असमर्थ ही रहे। हिन्दी का कोई आलोचक ऐसा नहीं हुआ है और न है, जिसकी तुलना रिचार्ड्स, इलियट आदि से की जा सके। यदि यह कहा जाए कि साहित्य रूपों में आज आलोचना ही सबसे कंगाल बनी हुई है तो अत्युक्ति न होगी। अत: आलोचना काल का यह वर्गीकरण मान्य होना चाहिए।

प्रारम्भिक काल साहित्य का निर्माण काल है। इस युग में सभी साहित्यिक विधाओं का निर्माण हो रहा था। भारतेन्दु और उनके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी इस युग के दो ऐसे व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के वर्तमान स्वरूप निर्धारण में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। इस काल में समूचे साहित्य क्षेत्र पर आदर्शवादी एवं सुधारवादी भावनाएं व्याप्त थीं और साहित्य रूप उन्हीं की छाया में पल्लवित होने का प्रयत्न कर रहे थे।

जहाँ तक आलोचना का सम्बन्ध है, इस काल में आलोचना का वास्तविक रूप पुस्तक परिचय तक ही सीमित रहा। 'आनन्द-कादम्बिनी' की 'संयोगिता स्वयंवर' इसी प्रकार की आलोचना है। यद्यपि है यह पुस्तक परिचय की शैली पर ही। पर इसके और प्रारम्भिक काल की होने के कारण भी उसमें हल्कापन नहीं है, और विश्लेषण की गुरुता एवं गंभीरता का प्रयास सर्वत्र परिलक्षित होता है। कहीं-कहीं कटु प्रहार करने का भी प्रयत्न किया गया है, जो अशोभनीय एवं अवांछनीय होते हुए भी इसीलिए क्षम्य है क्योंकि उनका उद्देश्य दिशानिर्देशन एवं निर्माण का रहा है। 'आनन्द कादम्बिनी' में ही 'बंगविजेता' के सभी परिच्छेदों पर आलोचना हुई है। इस आलोचना का बड़ा महत्व है। यद्यपि पूरी पुस्तक पर समूची दृष्टि से आलोचना नहीं है, फिर भी प्रारम्भिक काल में इतनी विशुद्ध आलोचना नहीं प्रकाशित हुई। 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना में संतुलित दृष्टि का अभाव है। आलोचक की दृष्टि दोषान्वेषण पर ही अधिक रही है। पर जैसा कि कहा जा चुका है, यह काल आदर्शवादी एवं सुधारवादी भावनाओं से ओत-प्रोत था, इसलिए ऐसा संभव हो सकता है कि दोषान्वेषण की इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में भी सुधार की भावना सन्निहित हो और आलोचक का उद्देश्य रचनाकार को गुमराह करने का नहीं, वरन् उसके अभावों को बताकर भविष्य में उन न्यूनताओं से सचेत रहने की चेतावनी एवं दिशा-निर्देशन की प्रवृत्ति रही हो। इस आलोचना का एक अंश इस प्रकार है: 'संयोगिता स्वयंवर' दिल्ली निवासी लाला श्री निवास दास रचित एक ऐतिहासिक नाटक है। लाला जी यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे, क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुनरावृत्ति की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही ऐतिहासिक हो गया·······किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी, उनके आभ्यन्तरिक भाव किस पहलू पर ढलके हुए थे अर्थात् उस समय-पात्र के भाव (स्प्रिट ओफ दी टाइम्स) क्या थे; इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति से पहले समझ लीजिए तब उनके दर्शाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजीए। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने से ही तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र-वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते। बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रों को नीरस रूखे से रूखे अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कला कहूँ तो अनुचित न होगा ······यहाँ तक कि संयोगिता बिचारी भी अपना पांडित्य ही प्रकाश करने के

यत्न में हैरान……कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों के सदृश कोरा तर्क-वितर्क करना भाव का गला घोंटना है……पृथ्वीराज संयोगिता से क्यों अलग हुआ, क्योंकि नीतिशास्त्र में लिखा है। राजा जयचन्द और पृथ्वीराज में क्यों मेल-मिलाप हो गया? केवल इसी कारण से कि अन्त को पछताके किसी तरह जयचन्द के मन महाभारत के घोर युद्ध का कारण बन गया। 'अहा, अहा तनिक और ज्यादा धँस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता……हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की क्वचित (chonadinrs sation) के भिन्न-भिन्न होने से ही नाटक की शोभा देखी पर आपके पात्र सब-के-सब एक ही रस में सम उपदेश देने में लथर-पथर पाए गए हैं……नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दर्शाना चाहिए।……कृपा करके विचारी निरपरा-धिनी कवित्व-शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजिएगा…… लालाजी आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।'[1] इससे स्पष्ट है कि आलोचक उपदेश देने की ही प्रवृत्ति अधिक पसन्द करता है। यह शैली एक प्रकार से जवाब तलबी की है। आलोचक ने बड़े कष्ट के साथ यह बताने का पहले प्रयत्न किया है कि ऐतिहासिक नाटक है क्या और सफल ऐतिहासिक नाटक किस प्रकार लिखे जा सकते हैं। अपने निष्कर्षों की कसौटी पर ही लेखक की परीक्षा आलोचक ने की है।

इस आलोचना की अपेक्षा 'बंगविजेता' की समीक्षा अधिक सुसंयत एवं प्रौढ़ है। इसके आलोचक थे बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। उन्होंने उपन्यास शिल्प की दृष्टि से बड़ी सर्वांगीण समीक्षा की है। यह हिन्दी में मनोहर और अनूठा उपन्यास बना और उसमें कोई सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ उपन्यास के समग्र गुणों से युक्त है……(प्रथम परिच्छेद में) जो बंग देश का इतिहास लिखा गया है वह हमारी जान यहाँ पर न लिखा जाना चाहिए क्योंकि उपन्यास का कोई अंग नहीं है, यह ऐतिहासिक विज्ञप्ति भूमिका में प्रकाशनीय है।……चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है, विशेषतः सरला और अमला-सी साँचे की ढली नवेली ललनाओं की स्वाभाविक अरसीली और भोली भाली बातें। इन्द्रनाथ का प्रवेश और सच्चे सरल स्नेही स्नेह भाजन और प्रेमी

---

१ हिन्दी प्रदीप

का स्वाभाविक मर्यादा-सम्पन्न शुद्ध प्रीति दर्शन और परस्पर सुमधुर प्रेमालाप और सभ्य वियोग सूचना अत्यंत उत्तम रीति से वर्णित है।[1] इसमें आलोचना का बड़ा संतुलित एवं व्यवस्थित रूप प्राप्त होता है और कृति की समीक्षा करने, न कि कृतिकार की समीक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें प्रेमघन जी ने कृतिकार पर व्यंगोक्तियां भी कसने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। इस काल की समीक्षा विज्ञापन शैली के स्तर पर होती थी, पर उनमें धीरे-धीरे प्रशंसा के साथ दोषान्वेषण भी होने लगा। 'आनन्द कदम्बिनी' में ही प्रकाशित 'कन्या विलाप' की समीक्षा इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस काल में प्राचीन कवियों एवं आचार्यों के आलोचनात्मक परिचय प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया गया। धीरे-धीरे साहित्य और इतिहास के विकास का भी अध्ययन किया गया और नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के साथ ही अनुसंधान प्रवृत्ति को भी प्रश्रय प्राप्त हुआ। भारतेन्दु के पहले का काल सैद्धांतिक निरूपण से युक्त रीति काल का था। अतः भारतेन्दु के पश्चात् भी स्वाभाविक रूप से रीति निरूपण की परंपरा चलती रही। भारतेन्दु तथा बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपनी पत्रिकाओं में नाटक कविता आदि का सैद्धान्तिक निरूपण करने का प्रयत्न किया है। इस प्रारम्भिक चरण में पाश्चात्य विचारों ने आलोचना के स्वरूप पर अपना प्रभाव दिखना प्रारंभ कर दिया था, जिससे कवियों के काव्य सौष्ठव के साथ कथानक, चरित्र, भाषण शैली एवं दर्शन आदि की भी व्याख्या करने का प्रयत्न आरम्भ हो गया था। इस काल में समीक्षा सम्बन्धी लेख ही अधिक प्राप्त होते रहे, पुस्तकों का एक प्रकार से अभाव था। विश्लेषणात्मक समीक्षा शैली का कुछ आभास भी प्राप्त होता है, जिसे आगे महावीर प्रसाद द्विवेदी ने और भी प्रौढ़ बनाने का प्रयत्न किया।

द्विवेदी जी के आगमन के साथ ही कवि व्यक्तित्व की समीक्षा की जाने लगी और आलोचकों में धीरे-धीरे कटु प्रहार एवं व्यंगोक्तियां कसने की प्रवृत्ति भी वृद्धि प्राप्त करने लगी। एक प्रकार से आलोचना का कार्य दोषान्वेषण अधिक हो गया, विशेषताओं एवं सौन्दर्य को खोजने की प्रवृत्ति न्यून होने लगी। इस काल में लेखकों को कवि कर्म संबंधी आदेश भी दिये जाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। 'कठोर प्रहार 'और 'फिर ऐसा न करने की चेतावनी'—इस काल की आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ बन गईं। आलोचक का उद्देश्य कवियों एवं

---

१ 'आनन्द कादम्बिनी' श्रावण सं० १९४२

जनता में सुरुचि का जागरण भी सबला जाने लगा। सैद्धान्तिक विवेचन का कार्य का इस काल में थोड़ा और विकसित हुआ। यद्यपि प्रायः यह सैद्धान्तिक निरूपण सामान्य परिचय से आगे नहीं बढ़ पाया है। द्विवेदी जी के नेतृत्व में आलोचकों ने पहली बार युग चेतना को पहचानने का प्रयत्न किया और अपनी समीक्षा का स्वरूप निश्चित किया। इस काल में काव्य के वर्ण्य-विषयों में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया तथा भाषा को रीतिकालीन कृत्रिमता से मुक्त किया गया। इस काल में आलोचकों का प्रमुख उद्देश्य जीवन और समाज में सात्विक भाव जागृत करना था और इसमें उन्हें पर्याप्त अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई।

मध्य काल में आलोचना को प्रारम्भिक अप्रौढ़ता एवं अपरिपक्वता से निकाल कर विकास की ओर ले जाने का कार्य मिश्रबन्धुओं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इस काल में आलोचना का शास्त्रीय रूप विकसित हुआ और निर्णयात्मक आलोचना का तथा तुलनात्मक आलोचना का भी पूर्ण विकास लक्षित हुआ। गम्भीरता, विश्लेषण शक्ति की प्रौढ़ता, पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं पश्चिमी आलोचकों की मान्यताओं का भारतीय काव्य शास्त्रीय आचार्यों की मान्यताओं के साथ तुलना कर निष्कर्ष निकालने एवं तदनुसार समीक्षा करने की प्रवृत्ति इसी काल में वास्तविक गति के साथ विकसित हुई। यद्यपि गुण-दोष निरूपण की प्रवृत्ति समाप्त नहीं हो गई, वह वैसे ही, बल्कि कुछ अधिक सीमा में ही चलती रही, पर आलोचक दृष्टि में अधिक संतुलन एवं तटस्थता लाने की आवश्यकता पर बल दिया गया और इस आधार पर आलोचना करने की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। इस काल में एक और प्रवृत्ति यह लक्षित हुई कि प्रायः आलोचकों ने अपने-अपने 'आलोचना सिद्धान्त' भी निर्मित कर लिए, जिससे उनमें पूर्वाग्रहों का जन्म हुआ। इसका आलोचना पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पूर्वाग्रहों से आज तक आलोचक अपने को मुक्त कर सकने में असमर्थ रहे हैं। इस काल में 'देव और बिहारी' से सम्बन्धित आलोचनाओं की पृष्ठ भूमि में यही पूर्वाग्रह ही विशेष रूप से क्रियाशील रहे। पाश्चात्या-लोचन के सिद्धान्तों के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में भी साहित्य एवं कलाकारों के ऐतिहासिक अध्ययन एवं युगीन जीवन के सन्दर्भ में साहित्य को देखने और परखने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी, जिसका पूर्ण विकास आधुनिक काल में लक्षित होता है। इस काल में तुलनात्मक समीक्षा का पूर्ण विकास

पद्मसिंह शर्मा ने किया। उनकी 'देव और बिहारी' से सम्बन्धित तुलनात्मक समीक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस पर उन्हें पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। अलंकार, रस, छन्द, पिंगल आदि कलापक्ष से सम्बन्धित विषयों के साथ भाव पक्ष, कवि कर्म, कवि व्यक्तित्व एवं युगीन जीवन के संदर्भ में साहित्य की परख करना इस युग की हिन्दी आलोचना को महत्वपूर्ण देन है। हिन्दी आलोचना के विकास में वस्तुतः यही विशेषताएँ मेरुदण्ड हैं।

इन प्रवृत्तियों का प्रौढ़ एवं तात्विक विकास करने में शुक्ल जी और उनके समकालीन आलोचकों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। व्याख्यात्मक एवं निगमनात्मक समीक्षा (Inductive critisism) का प्रारम्भ शुक्ल जी ने ही किया। मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आलोचना पद्धतियों का श्री गणेश भी वस्तुतः इसी काल में हुआ। विदेशी कला मीमांसकों एवं काव्यशास्त्रीय आचार्यों के सिद्धांतों की तर्कसंगत परीक्षा एवं आलोचना करने को प्रारंभ करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। इस काल में आलोचना कितनी प्रौढ़ एवं गंभीर हो गई थी, इसे एक उदाहरण पर्याप्त अंशों में स्पष्ट करेगा : "भारतीय काव्य परंपरा में इनका ग्रहण नहीं हुआ है। फिर इन वादों और ज्ञानातीत दशाओं का चित्रण लोक सम्मत नहीं कहा जा सकता। इन दशाओं का अनुभव सर्व साधारण का नहीं हो सकता। इस लिए इस प्रकार की वस्तु योजना काव्य नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत दशा से, चाहे वह कोई दशा हो या न हो, काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[१] शुक्ल जी ने प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा प्रणाली की भी आलोचना करते हुए यह कहा है : "प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य की, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।"[२] इस प्रकार इस युग के आलोचकों में विश्लेषण की प्रवृत्ति को अधिक प्रश्रय मिला और कोई बात तर्क संगत ढंग से कहे जाने का

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : काव्य में रहस्यवाद, पृ० ३६

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२६

प्रयत्न किया गया। प्रत्येक प्रतिपादित तथ्य के पीछे पर्याप्त तर्क दिये जाते थे; हवाई किले बाँधने की प्रवृत्ति समाप्त हुई। सैद्धांतिक आलोचना का जितना विकास इस काल में हुआ, उतना आगे नहीं। डॉ० श्याम सुन्दर दास, बाबू गुलाबराय, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि आलोचकों ने इस काल में समालोचना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

आधुनिक काल में सामान्य रूप से मध्ययुगीन समीक्षा पद्धतियों का ही विकास हुआ है। विशेष रूप से जिन प्रवृत्तियों को आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आत्मसात किया था, उन्हें ही थोड़े संशोधित और परिवर्द्धित रूप में अपनाने का प्रयत्न किया जाता रहा। इस काल में कुछ सर्वथा नवीन प्रवृत्तियाँ भी प्रचारित हुईं, और आलोचना के क्षेत्र में शीघ्र ही वर्ग बन गए, जिनके बीच आलोचकों का भी विभाजन हुआ। एक वर्ग के आलोचकों ने अपने वर्ग के लेखकों की रचनाओं को तो श्रेष्ठ ठहराने में कोई कसर नहीं रखी, पर दूसरे वर्ग के लेखकों को वे लेखक या कलाकार मानने को भी तैयार नहीं होते। इससे आलोचना की तटस्थता, तर्कपूर्णता और न्यायपूर्ण स्थिति को जबर्दस्त धक्का लगा। ऐसा पिछले युग में नहीं था। इससे हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक अवरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई है। आलोचना जहाँ पहले थी, वहीं अब भी है। उसमें कुछ विशे० ऐसा विकास नहीं हुआ है, जिसे क्रान्तिकारी परिवर्तन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वर्गगत भावना ने आलोचक के क्षेत्र में अनेक भ्रांतियाँ भी उत्पन्न कर रखी हैं। जिसके मन में जो आता है, वही निर्णय देता है, चाहे उसके पीछे कोई तर्क हो या न हो। दूसरे शब्दों में आज अधिकांश आलोचक पूर्वाग्रहों के साथ दुराग्रहों के भी शिकार हैं। हिन्दी आलोचना आधुनिक काल में ऐसा कोई भी आलोचक अभी तक नहीं उत्पन्न कर सकी है, जो अपने व्यक्तित्व से हिन्दी आलोचना को एक दिशा दे सके। पिछले युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया था। आज आलोचना के क्षेत्र में चार नाम ही ऐसे लिए जा सकते हैं, जो आलोचना को मौलिक, तर्कसंगत गवेषणापूर्ण पूर्वाग्रहों से मुक्त और गंभीर बनाने में संलग्न हैं। ये आलोचक डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। वैसे आज की अधिकांश आलोचना मौलिकता से परे-दायित्वहीन है। उसमें तर्क का अभाव है, विचारों की पुष्टता

नहीं है। श्रेष्ठ निर्णय की क्षमता नहीं है। परिणाम स्वरूप आलोचना दिशा निर्देश करने के बजाय स्वयं ही दिशाहारा की भाँति भटक रही है। किसी ऐसे आलोचक व्यक्तित्व के अभाव में, जो युगदायित्व का आकलन करके एक दिशा प्रदान कर सके, आलोचना नवोन्मेष की भावना से ओत-प्रोत होते हुए भी एक प्रकार से कुंठित है। उसकी प्रगति के मार्ग पर प्रकाश की किरणें बिखरी हुई हैं, फिर भी गतिशीलता अवरुद्ध है। इसका कारण यही है कि आलोचकों में अन्वेषण प्रतिभा का, गहन अध्ययन का, मौलिक सूझ-बूझ का अभाव है। साहित्य के गौरव की दृष्टि से इससे बड़े कलंक की बात और क्या हो सकती है ? आज अधिकांश आलोचनाएँ लिखी नहीं, लिखवाई जाती हैं। अधिकांश मत स्वयं नहीं निश्चित किये जाते हैं। हर बात में फतवे देने का आज एक प्रकार से फैशन हो गया है, चाहे उन फतवों का कोई मूल्य हो या न हो। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' : 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों के रचयिता क्या उचित रूप में दिशा निर्देश करके अपने उत्तरदायित्व को और भी सफलता पूर्वक निभाने का प्रयत्न करेंगे ?

१—महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में तो महत्वपूर्ण योग दान प्रदान किया ही आलोचना का वास्तविक स्वरूप भी उन्हीं के काल में निर्मित हुआ, द्विवेदी जी ने चतुर्मुखी व्यक्तित्व पाया था। वे कुशल लेखक एवं सम्पादक थे। श्रेष्ठ निबन्धकार थे और सबसे बड़ी बात उदार हृदय वाले समालोचक थे। इसके साथ ही नव-साहित्यकारों के वे पथ-प्रदर्शक थे। वे आलोचना में भावनात्मकता एवं सहृदयता के हिमायती थे। उनकी प्राप्त रचनाओं में श्री हर्ष लिखित हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की आलोचना (१८९९), श्री हर्ष द्वारा रचित नैषधीय चरितम् नामक संस्कृत महाकाव्य की समीक्षा (१९००), हिन्दी कालिदास की समालोचना (१९०१), सैद्धान्तिक समालोचना (१९०३), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (१९०६), कालिदास की निरंकुशता (१९११), रसज्ञ रंजन (१९२०) कालिदास और उनकी कविता (१९२०), सुकवि संकीर्तन (१९२२), साहित्य संदर्भ (१९२४), साहित्य सीकर (१९२९), आलोचनांजलि (१९२८), समालोचना समुच्चय (१९२८), लेखांजलि (१९२८) आदि प्रमुख हैं।

यहाँ द्विवेदी जी के कुछ प्रमुख आलोचना सिद्धान्तों पर विचार कर लेना उचित होगा। समालोचक के कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए उनका कहना है कि 'छन्द' अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुईं, इन्हीं पर ज़ोर देना अविवेकिता प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। व्याकरण आदि की भूलें होती किसमें नहीं ? अंग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत आदि भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वानों ने क्या इस तरह की भूलें नहीं की ? पर इससे क्या उनके ग्रन्थों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई ? किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है, या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए। लेखक ने अपने लेख या पुस्तक को जिस उद्देश्य से लिखा है वह यदि सिद्ध होता है, तो समझना चाहिए कि उसने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया।"[1] इससे स्पष्ट है कि द्विवेदी जी के आलोचना का दृष्टिकोण आदर्शवादी था। युगीन प्रवृत्तियों के अनुसार वे इसी दृष्टिकोण को अपना सके और आलोचना कार्य को गतिशील करते रहे। आलोचना द्वारा काव्य दोषों को स्पष्ट किये जाने के सम्बन्ध में भी उनके विचार इस प्रकार हैं: "जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रन्थों का दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं, । उनमें गुण-दोष निर्णायक शक्ति, बतलाइए कैसे उत्पन्न हो सकती है ? ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। बाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किये बिना न रहा जाए तो प्राचीन ग्रंथकारों के गुण ही गुण गाओ। जब उन्हें सुनते-सुनते लोग ऊब जायें, तब दोष दिखाना।"[2] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी आलोचना का प्रमुख उद्देश्य दोष दिग्दर्शन ही समझते थे। इसके पीछे उनका तर्क यह था कि बिना दोष दिग्दर्शन के वास्तविक आलोचना हो ही नहीं सकती। उस समय हिन्दी में प्रायः अधिकांश रूप से अत्यधिक उदारवादी दृष्टिकोण अपना कर

१ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : आलोचनांजलि (१९२८) में 'कर्तव्य' शीर्षक निबन्ध

२ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : आलोचनांजलि (१९२८) में 'कर्तव्य' शीर्षक निबन्ध।

आलोच्य कृति की प्रशंसा में ही आलोचना की इतिश्री समझी जाती थी। द्विवेदी जी को इस पर बड़ी खीझ होती थी।

द्विवेदी जी के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त परंपरागत हैं। परंपरागत मान्यताओं को उन्होंने निःसंकोच स्वीकार कर लिया था और तर्कपूर्ण ढंग से उसी का प्रतिपादन किया करते थे। कवि कर्म के सम्बन्ध में उनका मत है कि कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द रूप दे देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जाग्रत हो उठता है। इससे स्पष्ट होता है कि द्विवेदी रसवादी थे और काव्य में रसों की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार करते थे। इसे स्वयं उन्होंने ही स्पष्ट किया है। उनका विचार है कि कविता को रस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। द्विवेदी जी के इस कथन को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि यदि कविता रस सृष्टि नहीं करती तो वह मूल्यहीन है। उसका उद्देश्य असफल है। इसी सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि कविता क्या है ? इसका उत्तर द्विवेदी जी ने इस प्रकार दिया है : जो बात एक असाधरण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है। यद्यपि द्विवेदी जी द्वारा कविता के सम्बन्ध में दी गई यह परिभाषा बहुत स्पष्ट या पूर्ण नहीं है फिर भी इतना स्पष्ट होता ही है कि वे काव्य में वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के समर्थक रहे हैं और काव्य चमत्कार एवं उक्ति-वैचित्र्य पर भी बल देते हैं। काव्य में शब्दों का बड़ा महत्व होता है। इसे द्विवेदी जी ने इस प्रकार स्वीकार किया है : कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द स्थापना की बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार का दृश्य वर्णन करने में ढूँढ़-ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखना चाहिए, जो सुनने वाले के सामने वर्ण्य-विषय का चित्र सा खींच दे। इस प्रकार द्विवेदी जी प्रभावशीलता को कविता का प्रधान गुण मान उसे अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। वे छन्द को कविता के लिए आवश्यक नहीं मानते। उनके विचार से आज कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है—यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेज़ी की पोइट्री (Poetry) और वर्स में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है,

और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। इसी संदर्भ में द्विवेदी जी ने कवियों को परामर्श भी दिया है कि वे काव्य को अधिक से अधिक प्रभावशील बनाएं और अश्लीलता और ग्राम्यता गर्भित अर्थों से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए। न देश काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए। यह द्विवेदीजी का आदर्शवाद था। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मर्यादा पालन के हिमायती थे और नैतिक मान्यताओं के पालन पर बल दिया करते थे। साहित्य को भी वे इसी दृष्टिकोण से देखते थे। वे सही माने में तपस्वी चिंतक थे, निर्माण शिल्पी थे। युग निर्माता की समस्त विशेषताएँ उनमें साकार हो गई थीं। हिन्दी गद्य साहित्य उन्हें अपने आरम्भिक काल में पाकर धन्य हो उठा था।

द्विवेदी जी की आलोचना प्रणालियों में सैद्धांतिक प्रवृत्ति का आग्रह अधिक है। उनकी व्यावहारिक आलोचना में व्याख्या, विश्लेषण और निर्णय की सूझ-बूझ भी अपूर्व है। वे पाश्चात्य आलोचना प्रणाली के समर्थक न थे और भारतीय आलोचना प्रणाली एवं साहित्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं को युगानुकूल स्वीकृत करने के अधिक पक्षपाती थे। उन्होंने शास्त्रीय आलोचना पद्धति का भी अनुकरण किया है और परंपरागत मान्यताओं एवं आदर्शों को स्वीकृत करते थे। आचार्यत्व के ठीक अनुकूल खण्डन-मण्डन करने एवं निर्णय देने, शास्त्रार्थ करने तथा शास्त्रीय परंपराओं के सन्दर्भ में व्याख्या करने की प्रवृत्ति उनमें खूब थी। आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदीजी का दृष्टिकोण सुधारवादी था। हिन्दी गद्य की दृष्टि से यह निर्माण काल का एक प्रकार से प्रारम्भिक चरण था और द्विवेदीजी अपने उत्तरदायित्व को खूब समझते थे। उन्होंने अपनी आलोचना का आदर्श इसी के अनुकूल बनाया था। वे आलोचना का प्रमुख उद्देश्य दोषों को स्पष्ट करना एवं उनका विवेचन करना ही समझते थे। पर इसके साथ ही वे आलोचना में नैतिकता, आदर्श और मर्यादा को तिलांजलि दे देना भी पूर्णतया अनुचित मानते थे। उन्होंने ऐतिहासिक आलोचना शैली का अनुकरण कवियों की आलोचना करते समय किया है। इन्हीं आलोचनाओं में तुलनात्मक आलोचना प्रणाली का स्वरूप भी मिलता है। आलोचना में छन्द, अलंकार, रस, सौन्दर्य एवं व्याकरण विषयक निरूपण को उल्लेखनीय महत्व प्रदान करते हुए भी वे आलोचना का प्रमुख स्वरूप निर्मित करना चाहते थे।

द्विवेदीजी की आलोचना शैली प्रखर एवं कटु होने के साथ भावनात्मकता और रसबोध से भी पूर्ण रहती थी। वे चाहते थे आलोचना निष्पक्ष एवं संतुलित दृष्टि से लिखी जाकर दिशानिर्देशन का कार्य करे। अपनी आलोचनाओं में भी उन्होंने इसका पूर्ण पालन करने का प्रयत्न किया है। अनुवाद ग्रन्थों के सम्बन्ध में अपने आदर्श का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं, 'एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद करने वालों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए। बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है, क्योंकि अनुवाद के द्वारा उसके गुणों का ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण पढ़ने वालों की दृष्टि में वह हीन हो जाता है। इसीलिए किसी पुस्तक का अनुवाद करने से पहले अनुवादक को अपनी योग्यता पर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है। सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है, वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है।'[1] वास्तव में साहित्य के क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण सुधारवादी था। उनका मत था कि किसी रचना की समालोचना करने में आलोचक यदि शुद्ध हृदय से अपनी सम्मति प्रकट करे तो उससे उसकी अप्रतिष्ठा नहीं होती। विल्हड़ की प्रतिष्ठा या निन्दा करने का विचार तो दूर रहा, उल्टा हमने उनका परिचय हिन्दी जानने वालों से कराकर उनकी ख्याति बढ़ाने का प्रयत्न किया है।[2] द्विवेदीजी की आलोचना का एक प्रमुख उद्देश्य दिशानिर्देशन का भी था। उनकी आलोचनाएँ इस प्रकार के वाक्यों से भरी होती थीं कि कवि को यह करना चाहिए—कवि को वह न करना चाहिए।

द्विवेदीजी ने भाषा को संवारने और सुधारने की दिशा में श्लाघनीय प्रयत्न किया। व्याकरण संबंधी अशुद्धियों के निराकरण, शब्दों के उचित प्रयोग एवं आदर्श वाक्य निर्माण की ओर वे बराबर अपने समकालीन कवियों एवं लेखकों का दिशानिर्देशन किया करते थे। स्वयं द्विवेदीजी की भाषा सरस है और उसमें रवानगी है। वे संस्कृत निष्ठ भाषा के विशेष समर्थक नहीं थे। उनकी भाषा में सहजता एवं रमणीयता है। वे चाहते थे कि कवियों को ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, जिससे उनकी कविता साधारण से साधारण लोगों की समझ में आ जाए। उनके अनुसार विषयानुकूल शब्द स्थापना होनी

१ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन, (१९२०), पृष्ठ १४
२ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : विक्रमांकदेव चरित्र चर्चा की भूमिका

चाहिए। कविता एक अपूर्ण रसायन है। रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रवड़ बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है। शब्द चुनने में अक्षर मैत्री का विशेष ध्यान रखना चाहिए।[1] वे चाहते थे कि गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक न हो, क्योंकि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य की एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। द्विवेदी जी में एक बात जो सबसे अधिक खटकती है वह यह कि उनकी शैली कभी-कभी अनावश्यक रूप से आवेशपूर्ण और अतिशयोक्तिपूर्ण हो जाती है। वे आवश्यकता से अधिक दिशानिर्देशन एवं उपदेश की प्रवृत्ति जहाँ अपनाने लगते हैं, वहाँ आलोचना के साथ वे पूर्ण न्याय नहीं कर पाए हैं। वे सैद्धांतिक निरूपण का केवल परिचय मात्र दे सकने में ही सफल हो पाए हैं। यद्यपि उसे भी तर्क की कसौटी पर परखा जाए तो खरा नहीं उतर सकेगा। जो गम्भीरता और सुसम्पन्नता, विशदता एवं बहुलता आगे चल कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सैद्धांतिक निरूपणों में अभिव्यक्त हुई, द्विवेदी जी में उसका पूर्ण अभाव था। पर जैसा कि कहा जा चुका है, यह हिन्दी आलोचना का एक प्रकार से प्रारम्भिक काल था। उसे वास्तविक दिशापथ पर अग्रसर करने का कार्य द्विवेदी जी ने प्रशंसनीय ढंग से किया। यही बहुत था। हिन्दी साहित्य में आलोचना के विकास क्रम की दृष्टि से द्विवेदी जी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

२—मिश्रबन्धु

हिन्दी में आलोचना साहित्य के विकास क्रम की दृष्टि से मिश्र बन्धुओं (सर्वश्री गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र) का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। पंडित श्याम बिहारी मिश्र ने प्रयाग विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए० किया था और डिप्टी कलेक्टरी कर रहे थे। पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र कानून की उपाधि प्राप्त कर मुन्सिफी कर रहे थे और पण्डित गणेश बिहारी मिश्र जमींदारी की देखभाल कर रहे थे। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं का प्रवेश अनायास ही हुआ था और यह एक विचित्र संयोग ही था कि साहित्य के क्षेत्र में अचानक जमींदार और शासन से सम्बन्धित उच्च अफसरों ने प्रवेश किया। हिन्दी में

---

१ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : आलोचनांजलि (१९२८)

इनकी यशकीर्ति का आधार स्तम्भ "मिश्रबन्धु विनोद" है। जिसका प्रथम संस्करण १९१३ में इंडियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का वास्तविक सूत्रपात्र मिश्र बन्धुओं के ही हाथों हुआ और उसका सुसंयत रूप "मिश्र बन्धु विनोद" में देखने को प्राप्त होता है। वे महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित लाला सीताराम की "हिन्दी कालिदास की समालोचना" को आलोचना न स्वीकार कर 'अशिष्ट भाषा में लिखा गया व्याकरण सम्बन्धी दोष प्रदर्शन मात्र' स्वीकार करते हैं। उनकी 'नैषध चरित चर्चा' में समालोचना का कुछ रूप आया है; किन्तु वह भी सर्वांगपूर्ण नहीं है क्योंकि वह भाषादि बाहरी बातों पर बहुत करके सीमित है और भाव तक नहीं पहुँचता।[1] मिश्रबन्धुओं के मतानुसार 'समालोचना में मुख्य वर्णन कवि का होना चाहिए और उसी की रचना के साथ जहाँ कहीं अच्छे सिद्धान्त निकालें उनका सूक्ष्मतापूर्वक विवरण लिख देना उचित है।'[2] उन्हें अपने समकालीन आलोचकों से शिकायत थी, क्योंकि वे कवियों पर गोलमाल शब्दों में अपनी सम्मतियाँ प्रदान करते चलते थे, पर उनका किसी कारणमाला द्वारा समर्थन नहीं करते थे। दोष दर्शन की मिश्र बन्धुओं ने अपनी आलोचना पद्धति में कम प्रश्रय देकर प्रशंसा को अधिक महत्व प्रदान किया है। कवियों के कलापक्ष एवं भावपक्ष पर उन्होंने पक्षपात रहित दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है: जयशंकर प्रसाद का छायावाद उत्कृष्टता के सोपान तक नहीं पहुँच पाता। उनके जो मुख्य ग्रन्थ हैं; उनमें ऐतिहासिकता की प्रधानता है और छायावाद नहीं के बराबर है। यदि प्रसाद जी केवल छायावादी होते तो हम उन्हें बहुत ही साधारण कवि मानते।"''''' सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' में है तो मुक्तकों का ही रूप, किन्तु एक-एक विषय पर वर्णन कुछ बड़े-बड़े भी हैं। इनमें केवल छायावाद नहीं है, वरन् इतर साहित्य के साथ कुछ-कुछ वह भी मिल गया है।[3] यद्यपि मिश्र बन्धुओं के इस मत से पूर्णतया सहमत होना कठिन है, पर इससे उनके विवेचनात्मक सूझ-बूझ का परिचय मिलता है।

यद्यपि यह सत्य है कि मिश्र बन्धुओं की आलोचना में प्रौढ़ता नहीं है, फिर भी यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि संतुलित आलो-

१ मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धु विनोद, (चतुर्थ, सं० १९९१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३६४

२ वही, पृष्ठ १६५

३ वही, पृष्ठ ३३२

चना की दृष्टि से उन्होंने यथेष्ट प्रयत्न किया था। उन्होंने कहीं-कहीं तुलनात्मक आलोचना प्रणाली भी अपनाई है : पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे पर बाद में इस विचार में शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुकाबला किया। तब जान पड़ा कि मतिराम के प्रायः १० या १२ कवित्त तो ऐसे रुचिर हैं कि उनका सामना भूषण का कोई कवित्त नहीं कर सकता और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त नहीं ठहर सकते। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशव से मिलाया तो भी भूषण की कविता में विशेष चमत्कार दीख पड़ा।[१] यद्यपि यहाँ मिश्रबन्धुओं को इस निष्कर्ष की निष्पक्षता एवं उसके तर्क संगत होने के सम्बन्ध में शंकाएं उठाई जा सकती हैं। कदाचित् वह अधिक तर्कपूर्ण न सिद्ध हो सके, पर इतना अवश्य है कि आलोचना की विभिन्न प्रणालियों को जहाँ तक संभव हो सका है, उन्होंने संतुलित रूप में ही अपनाने का प्रयत्न किया है। उनकी आलोचना पद्धति में तुलना और सुरुचि का पर्याप्त समावेश हुआ है। पर उनकी प्रवृत्ति भी गुण दोष की निरूपण सीमा के अधिक आगे नहीं जा सकी। उनके विचार से गुण-दोष का निरूपण करना किसी रचना की आलोचना करते समय आवश्यक होता है और यही श्रेष्ठ आलोचना की उल्लेखनीय विशेषताएं होती हैं। अपनी आलोचना पद्धति में उन्होंने शास्त्रीय परंपराओं का भी पर्याप्त समावेश किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों के साहित्यिक आदर्शों एवं मान्यताओं तथा साहित्यशास्त्र के आलोचना सिद्धान्तों के आधार पर भी रचनाओं की समीक्षा करने का प्रयत्न किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। यह रूप घनाक्षरी छन्द है, जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति सोलहवें वर्ण पर रहती है।

> 'एक चरन को बरन जहं दुतिय चरन में लीन।
> सो यति भंग कवित्त है, करै न सुकवि प्रवीन।'

यहाँ रिसानी शब्द का 'रि' अक्षर प्रथम चरण में है और 'सानी' दूसरे में। इस हेतु छन्द में यति भंग दूषण है। '……को जाने री बीर' में कई गुरु वर्ण साथ-साथ एक स्थान पर आ गए हैं, जिनसे जिह्वा को क्लेश

१ मिश्रबन्धु : हिन्दी नवरत्न (१९१०), लखनऊ, पृष्ठ ३२

होने से प्रबन्ध योजना अच्छी नहीं है। यहाँ 'गुरु सोच' से गुरुजनों से सम्बन्ध रखने वाला शोक नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक तो शब्द गुरुजनों को प्रकट नहीं करते और दूसरे उनके सम्मुख गात्र-स्पर्श आदि बाह्य रीति सम्बन्धिनी भी कोई क्रियाएं नहीं हो सकतीं।..... "थोड़ा सा ही गात छूने से क्रोध करने का भाव नायिका का मुग्धत्व प्रकट करता है।........यहाँ 'सुभाव' एवं 'मुस्कान' शब्द जुगुप्सा को बचाते हैं, क्योंकि यदि नायक अप्रसन्न होकर उठता तो वीभत्स रस का संचार हो जाता जो शृंगार विरोधी है। ..... निशि खोने एवं प्रात पाने में रूढ़ि लक्षणा है। 'गोरी गोरी मुख आज औरों सो विलासो जात' गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एवं पूर्णोपमालंकार है। 'भरि भरि गोरो गोरी.........' वीप्सित पद है। वीप्सा का अच्छा चमत्कार है। इस छन्द में पूर्ण शृंगार रस है।" यह प्रसंग विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़ एवं सुसंगत रूप निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है जिसमें काव्य के कलापक्ष का अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्विक विवेचन बड़ी गहराई एवं विद्वता से किया गया है। कवियों की आलोचना करते समय प्रायः रस, अलंकार, छन्द, पिंगल आदि का विवेचन शास्त्रीय पद्धति पर करने का उन्होंने प्रयत्न किया है।

मिश्रबन्धुओं की आलोचना में शास्त्रीय मान्यताओं एवं परंपराओं के समावेश के साथ निर्णयात्मक आलोचना पद्धति के अनुसरण करने की प्रवृत्ति भी प्राप्त होती है। उन्होंने कवियों की विवेचना करते समय उन पर प्रायः अपने निर्णय भी दे दिए हैं। यद्यपि उनके इन निर्णय का आधार क्या था, उनकी अपनी सुरुचि, प्रचलित मान्यताएं, उनके काव्य का कलापक्ष या भाव पक्ष-यह सब कुछ बहुत अधिक स्पष्ट नहीं होता और न ही उनके दिए गए निर्णय बहुत अधिक तर्क संगत प्रतीत होते हैं। वे किसी अपरिपक्व साहित्य प्रेमी द्वारा दिये गए फतवों से कुछ विशेष अधिक महत्व नहीं रखते। उनकी मान्यताओं में बराबर परिवर्तन होता रहा है। वे पहले किसी और कवि को अच्छा और श्रेष्ठ समझते थे, बाद में किसी दूसरे को : पीछे से जायसी की कविता बहुत बढ़िया समझ पड़ी, और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ। किन्तु अन्त में जायसी की कविता कई बार ध्यान से पढ़ने पर उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी में समझ पड़ा। यह श्रेणी पद्माकर की श्रेणी के नीचे है। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी, फिर दास की और तब पद्माकर की।

तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है और उसके पीछे हीन श्रेणी। धीरे-धीरे यह समझ पड़ा कि सेनापति की कविता परम अनूठी एवं विशद होने पर भी मतिराम की रचना की समता नहीं कर सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया, और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न में नौ कवियों की स्थिति हुई। हाल ही में महात्मा कबीर दास भी नवरत्न में गण्य समझ पड़े हैं।'[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि तुलनात्मक पद्धति के साथ मिश्रबन्धुओं ने अपनी सुरुचि को अधिक प्रश्रय प्रदान किया है। 'कई बार ध्यान से पढ़ने पर' केवल शाब्दिक आवरण मात्र है उसकी आड़ में उन्होंने मनचाही श्रेणियाँ बनाई हैं, जिनका तार्किक आधार प्रस्तुत करने में वे पूर्णतया असफल रहे हैं। यह आलोचना कहलाएगी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इसमें भी सन्देह है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने कहा है 'हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबन्धुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।'[2]

सूर, तुलसी, कबीर और भूषण आदि कवियों की रचनाओं की आलोचना करते समय मिश्रबन्धुओं ने राष्ट्रीयता, जातीयता और समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन करने का भी प्रयत्न किया है। कवि सन्देश और कवियों के जीवन संबंधी दृष्टिकोण की समीक्षा करने की प्रवृत्ति भी इनमें प्राप्त होती है : 'कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के वैमनस्य को दूर करने के लिए एकेश्वरवाद का आधार लिया था, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को मान्य हुआ, लेकिन तुलसीदास जी ने इन दोनों भिन्न धर्मावलम्बी जातियों के गठबन्धन करने का प्रयत्न नहीं किया। अपितु हिन्दू धर्म के विभिन्न संप्रदायों की कटुता को धोकर उनमें मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में उनको पर्याप्त सफलता भी मिली।'[3] इस प्रकार की समीक्षा प्रवृत्ति में मिश्रबन्धुओं के विचारों में

१ मिश्रबन्धु : हिन्दी नवरत्न, (१९२०), लखनऊ, पृ० ३३
२ रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (नवम् संस्करण), बनारस, पृ० ५२९
३ मिश्रबन्धु : हिन्दी नवरत्न, (१९१७), लखनऊ, पृ० २४

प्रौढ़ता के दिग्दर्शन होते हैं। उन्होंने भाषा के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं स्वीकार किया है और भाषा सम्बन्धी स्वच्छन्द विकास को साहित्यिक प्रगति के लिए वांछित एवं अनिवार्य स्वीकार किया है। व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों को देखना मात्र उन्होंने आलोचना का आदर्श नहीं माना है, क्योंकि इससे आलोचना की छीछालेदर होती है। साथ ही केवल व्याकरण की दृष्टि से प्रत्येक कवि की भाषा की आलोचना करना वे सीमित दृष्टिकोण का परिचय मात्र मानते थे।

३—पं० पद्मसिंह शर्मा

हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना प्रणाली का वास्तविक सूत्रपात पं० पद्मसिंह शर्मा के हाथों हुआ। उनकी यशकीर्ति का प्रमुख स्तम्भ उनका 'बिहारी सतसई की आलोचना' नामक ग्रंथ है। वे संस्कृत एवं हिन्दी के अधिकारी विद्वान थे, साथ ही फारसी एवं उर्दू का भी उन्हें पूर्ण परिचय था। उनकी आलोचनाओं में सर्वत्र इसका आभास प्राप्त होता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से संवत १९७९ वि० में उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ था और बिहारी सतसई की आलोचना उस वर्ष सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ घोषित हुआ था। उन्होंने बिहारी के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करके प्रथम बार तर्कपूर्ण ढंग से बिहारी को चोरी के आरोप से मुक्त करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। उस समय साहित्य के क्षेत्र में बिहारी की मौलिकता के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई थीं और अनेक आलोचकों ने बिहारी में मौलिकता का पूर्ण अभाव पाया था तथा उन पर चोरी का दोषारोपण किया था। मौलिकता संबंधी इन भ्रांतियों का निराकरण करते हुए शर्माजी ने प्रतिपादित किया कि नितान्त नवीन वस्तु की रचना प्रक्रिया में ही मौलिकता नहीं प्रदर्शित होती, वरन् चिर-परिचित एवं कवि परंपरा से प्राप्त तथ्यों को उक्ति-वैचित्र्य के माध्यम से प्रस्तुत कर देने में भी मौलिकता होती है। यदि मौलिकता की कसौटी नूतन भाव और वस्तु की कल्पना समझी जाए, तो साहित्य का कोई भी कवि मौलिकता का अधिकारी न बन सकेगा। महाकवि कालिदास ने भी अपने परवर्ती कवियों से प्रभाव ग्रहण कर रचनाएं की थीं। साहित्य में ऐसा प्रायः होता है कि एक ही भाव दो कवियों को एक साथ ही सूझ जाता है, यह सादृश्य पूर्णतया आकस्मिक होता है और उसका प्रस्तुतीकरण वे अपने-अपने ढंग से करते हैं। इससे एक

दूसरे की मौलिकता पर आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि 'कवि भी प्रकृति वाटिका का विकासक वसन्त है। वह प्रकृति के उन्हीं नीरस रूखे-सूखे ठूंठ रूखों में अपनी प्रतिभा शक्ति से अलौकिक रस का संचार करके कुछ-से कुछ कर दिखाता है। कवि वसन्त किसी पुरानी कविता- द्रुम में रस ध्वनि के मधुर फल, किसी में अलंकार ध्वनि के मनोहर पुष्प, और किसी में वस्तु ध्वनि के सुन्दर रूप-रंग का समावेश करके सूखते हुए और निर्जीव को सजीव बना देता है। किसी को शब्द शक्ति के और किसी को अर्थशक्ति के सहारे ऊपर उठा देता है। किसी को अर्थालंकार के वैचित्र्य से आँखों में खुबने और चित में चुभने वाला कर दिखाता है।'[१] इस प्रकार उनके विचार से बिहारी पर चोरी का दोषारोपण लगाना सर्वथा अनुचित और असंगत है। शर्मा जी को संस्कृत साहित्य का और शास्त्रीय परंपराओं का भी पूर्ण ज्ञान था और इसका उन्होंने अपनी आलोचनाओं में प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है।

महाकवि बनने के लिए, शर्मा जी की दृष्टि से आवश्यक है, कवियों में सरस और प्रतीयमान अर्थपूर्ण कविता करने की क्षमता हो। उनके इस दृष्टिकोण का आधार 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका है। शर्मा जी की आलोचनात्मक पद्धति में तुलनात्मक प्रवृत्ति, वैयक्तिक रुचि और प्रभावाभिव्यंजक प्रवृत्ति के साथ शास्त्रीय परंपराओं एवं मान्यताओं के समन्वय करने की भी प्रवृत्ति है। अपने तर्कों के समर्थन में स्थान-स्थान पर उन्होंने 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्य-मीमांसा' के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने एक एक शब्द की शास्त्रीय समीक्षा करने का प्रयत्न किया है, जो व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति के अन्तर्गत आता है : 'जरा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था वह वहां से निकलते ही इतना फैला कि कुंडलियों और कवित्तों के बड़े मैदान में भी नहीं समा सका। मानो गंगा का समृद्ध वेग प्रवाह है जो शिवजी की लटों से निकल कर किसी के काबू में नहीं आता। इंजीनियर लाख कारस्तानी कर हारे पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े से बड़े गड्ढे में भरकर रोक रखना, सामर्थ्य से बाहर की बात है, हो नहीं सकता, ऐसा हो नहीं सकता।'[२] इस प्रकार व्याख्या करने के पश्चात् तर्कपूर्ण ढंग से उन्होंने बिहारी को श्रेष्ठ महाकवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परकीया चित्रण

१ पद्मसिंह शर्मा : बिहारी की सतसई पृ० २७
२ पद्मसिंह शर्मा : बिहारी की सतसई पृ० ३२

की अश्लीलता पर भी शर्मा जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने कवि-कर्म को अधिक प्रधानता दी है। उनके अनुसार यदि ऐसे अश्लील चित्रण से कवि का उद्देश्य काव्य रसिकों के मन में जुगुप्सा जगाना है, तो उसका यह वर्णन निन्दनीय एवं अशोभनीय है। पर यदि ऐसी अश्लीलता की यथार्थता से कवियों का उद्देश्य पाठकों को परिचित कराना है तब उनका प्रयत्न प्रशंसनीय कहा जाएगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने रुद्रट के काव्यालंकार का आश्रय ग्रहण किया है। तुलनात्मक समीक्षा-प्रणाली और बिहारी सतसई की आलोचना में उसके उपयोग किए जाने की सीमाओं एवं उद्देश्यों पर भी उन्होंने अपने मंतव्य को स्पष्ट किया है : 'तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य भारतीय साहित्य के विधाता संस्कृत कवियों का अपमान करना नहीं है, उन पर लेखक की बिहारी से भी अधिक पूज्य बुद्धि है। संस्कृत कवियों के भाव के साम्य को ही वह बिहारी के काव्योत्कर्ष का कारण समझता है। संस्कृत कवि उपमान हैं, बिहारी उपमेय है। उपमान और उपमेय में जो भेद है, वह स्पष्ट है। कहीं-कहीं जो व्यतिरेक प्रदर्शन है, वह मतिभ्रम मूलक हो सकता है, बुद्धिपरक पक्षपात जन्य नहीं।'[1] इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी का अलंकार शास्त्र से भी कितना घनिष्ठ परिचय था। ऐसे ही प्रसंगों से उन्हें 'शृंगारिक परम्परा के आलोचक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। शर्माजी की आलोचना में शृंगारिक परंपरा का प्रभाव होने के साथ ही आधुनिक आलोचना प्रणाली का भी पूर्ण समावेश है। उन्होंने कहीं ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है, कहीं प्रभावाभिव्यंजक आलोचना पद्धति अपनाई है। कहीं उन पर व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति का प्रभाव पड़ा है, तो कहीं उन्होंने जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली का अनुसरण किया है। पर प्रमुख रूप से वे शृंगारिक परंपरा के ही आलोचक हैं। किसी युग विशेष के प्रचलित मानदण्डों के आधार पर उसकी सीमाओं में किसी भी कवि को 'फिट' कर देना शर्मा जी को रुचिकर नहीं था, और न वे ऐसा साहित्य गौरव के लिए श्रेयस्कर ही समझते थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की शास्त्रीय परंपराओं एवं शृंगारिक परंपराओं का प्रभाव ग्रहण तो किया है पर मात्र उन्हीं की कसौटी पर ही बिहारी की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने का प्रयत्न नहीं किया है। उनका एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है : आजकल सम्भ्रान्त

---

१ पद्मसिंह शर्मा : बिहारी की सतसई पृ० २७२

शिक्षित समाज कोरी स्वभावोक्ति पर फिदा है। अन्य अलंकारों की सत्ता इसकी परिष्कृत रुचि की आँखों में काँटा सी खटकती है और विशेषकर अतिशयोक्ति से तो उसे कुछ चिढ़ सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओं के मत में जो चीज कविता कामिनी के लिए नितान्त उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि वैचित्र्य का दौरात्म्य है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काल वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि' के आदर्श पर नहीं रचे गये। उन्हें इस नए गज से नापना चाहिए। मेरा उपर्युक्त कथन शर्माजी के इस अंश से यथेष्ट मात्रा में स्पष्ट हो गया होगा।

शर्माजी की आलोचना पद्धति में सहृदयता एवं उदारता का अंश पर्याप्त मात्रा में है। अपनी उक्तियों में अत्यन्त कटुता का समावेश वे नहीं कर सके हैं। वे प्रभावाभिव्यंजकता से भी अपने को नहीं बचा पाए हैं। किसी दोहे की आलोचना करते-करते उसके काव्य सौन्दर्य से वे इतना प्रभावित हो हो जाते हैं कि स्वयं भी भावुकता में बहने लगते हैं। स्पिनगार्न (Spingarn) के शब्दों में कला के सौन्दर्य का अनुभव करना और उस अनुभूति को अभिव्यक्त करना प्रभाववादी आलोचना का प्रमुख उद्देश्य होता है। शर्माजी ने भी स्थान-स्थान पर इसी उद्देश्य की पूर्ति की है। ऐसे स्थलों पर 'वाह उस्ताद क्या कहने है।' 'कितना माधुर्य है।' आदि वाक्यों की सहायता से वे अपने आन्तरिक आह्लाद को काव्यमय ढंग से अभिव्यक्त करने लगते हैं : 'पर वाह बिहारी लाल, धन्य तुम्हारी प्रतिभा ! 'जिहि प्रतिभा और कछू जिहि बस होत सुजान' बात वही है। पर देखिए तो आलम ही निराला है ! क्या तानकर 'शब्दवेधी' का तीर मारा है। लुटा ही दिया ! एक अनियारेपन ने धवल 'कृष्णपक्ष्मल, सबको एक अनी की नोक में बींध-कर एक ओर रख दिया ! और वाह रे 'चितवन' तुम्हारी 'चितवन' की ताब भला कौन ला सकता है, फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुन्दरी) वशीकरण का खजाना है तो दूसरी (तरुणी) खान है और 'सुजान' तो कविता की जान ही ठहरा। इस एक पद पर तो ऐड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है ' इस तरह के अनेक प्रसंग उनकी आलोचना में प्रायः भरे पड़े हैं।

शर्माजी भाषा में पांडित्य-प्रदर्शन के समर्थक न थे। वह आलोचना के लिए सीधी-सादी भाषा लिखते थे और उसी को श्रेष्ठ समालोचना के लिए श्रेयस्कर समझते थे। आवश्यकतानुसार संस्कृत शब्दों का प्रयोग यद्यपि उन्होंने किया है, पर सब मिलाकर उनकी भाषा बड़ी सीधी-सादी है। उसमें प्रवाह-

मयता है, और साथ ही प्रभाव डालने की अपूर्व क्षमता भी है। एक उदाहरण देखिए : क्या अच्छी सूझी है, इन हज़रत ने यदि बिहारी से केशों की करामात सुनी होती तो ऐसी फिज़ूल आरज़ू कभी न करते। अरे बाबा, आँखें ज्यों-त्यों करके निकाल भी लीं तो क्या हुआ ? इस नागन के मुँह में से तो मन को नहीं निकाल सकोगे।[1] कहीं-कहीं अत्यधिक भावुकता में आकर उन्होंने भाषा में अलंकरण की वृत्ति भी अपनाई है, पर पढ़ने में वह आनन्द ही देती है, दुरूहता नहीं उत्पन्न करती। 'अन्य कवियों' की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकापन है, कुछ विशेष वक्रता है, व्यंग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति (जो कविता की आन और रस की खान है) और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है। जिस पर रसिक सुजान सौ जान से फिदा है।[2] शर्माजी वास्तव में हिन्दी के घोर पक्षपाती होते हुए भी फ़ारसी-उर्दू के शब्दों का बहिष्कार नहीं चाहते थे। उनकी सम्मति में हिन्दी का अच्छा लेखक या साहित्यकार बनने के लिए फ़ारसी और उर्दू का भी अच्छा परिचय होना आवश्यक था। भाषा की सजीवता और जिन्दादिली के वे प्रबल समर्थक थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है। 'जिस भावहीन निर्जीव भाषा में लीन कर्णकटु वाक्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है, इससे सुरुचि का संचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी साहित्य क्षेत्र में बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम चलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभिष्ट है।' एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है 'यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो उस पुरानी वाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्षों तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के डर से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता। मकरन्द के लिए मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा। यदि वे इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल से स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा विज्ञान के लिए उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है। परमात्मा इस

---

१ पद्मसिंह शर्मा : बिहारी की सतसई, पृष्ठ ६१

२ वही, पृष्ठ १६०

'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे।' इस प्रकार शर्माजी के भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हैं और इन्हीं के अनुसार अपनी आलोचना की भाषा उन्होंने लिखी भी। हिन्दी आलोचना के विकास में उनका योगदान स्तुत्य है।

४—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना को प्रौढ़ एवं सुसंयत रूप प्रदान करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ही रहा है। हिन्दी साहित्य के वे सर्वश्रेष्ठ आलोचक स्वीकार किए जाते हैं और आज तक इतना गम्भीर चिन्तक एवं संतुलित उपीक्षक पैदा करने में हिन्दी साहित्य असमर्थ रहा है। उनका जन्म बस्ती जिले के अगोना ग्राम में विक्रम संवत् १९४१ में आश्विन पूर्णिमा को हुआ था। मिर्जापुर और इलाहाबाद में शिक्षा प्राप्त की और साहित्यिक जीवन का सूत्रपात मिर्जापुर से किया। उनकी प्रमुख रचनाएँ, 'गोस्वामी तुलसीदास' (१९२३), 'सूरदास' (१९२३), 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका(१९२४', 'काव्य में रहस्यवाद' (१९२९) 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' १९३२), 'आदर्श जीवन' (१९३०), 'प्रगति या उन्नति, उसका नियम और निदान, 'चिन्तामणि' प्रथम भाग (१९४५), 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (सं २००२), 'बुद्ध चरित' (सं० १९९५ वि०), 'भ्रमर गीत सार' (सं०१९९६ वि०), 'विचार वीथी, 'विश्व प्रपंच' (१९९९ वि०), 'रस मीमांसा' (सं० २००६ वि०', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९९९ वि०), 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' (सं० १९९६ वि०) हैं। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक अनूदित रचानाएँ हैं। शुक्ल जी के समीक्षा सिद्धान्तों में सर्वप्रथम उनके रस सिद्धान्तों पर विचार कर लेना तर्क संगत होगा।

रस सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन शुक्ल जी ने अपने 'रस मीमांसा' ग्रन्थ में किया है। इस दशा के सम्बन्ध में शुक्लजी का कहना है कि मनुष्य जब कभी अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूट कर-अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है। तब वह मुक्त हृदय हो पाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के-लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं

और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।[1] इसका अभिप्राय स्पष्ट है। शुक्लजी के अनुसार शब्दों की वह योजना काव्य हो ही नहीं सकती, जो हृदय में भाव जागृत कर रस दशा की स्थिति उत्पन्न न करे। कवि तो बहुत से होते हैं। जिसने ज़रा सी तुकबन्दी सीखी वह कवि हो गया, पर ऐसे कवियों से साहित्य का कोई लाभ होने के बजाय हानि ही होती है। ये कवि न तो यह जानते हैं कि उनका दायित्व क्या है और उनका कर्तव्य क्या है? फिर प्रश्न उठता है कि सच्चा कवि कौन है? इसका उत्तर देते हुए शुक्लजी का कहना है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विभिन्नताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में लीन होने का नाम रस दशा है।[2] इसी सन्दर्भ में वे कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है। जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।[3] शुक्ल जी के रस दशा सम्बन्धी विचारों को ये उद्धरण अनेक अंशों में स्पष्ट करते हैं। रसानुभूति की स्थिति में रसभवित (आश्रय और सामाजिक) की पृथक सत्ता का उन्होंने तिरोभाव किया है और मनुष्य को स्वार्थ सम्बन्धों से मुक्त होकर लोक सामान्य की भावभूमि पर पहुँचना अनिवार्य बताया है।

रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि रस में अनुभूति की प्रधानता होती है। आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी और संचारी भावों का विवरण मात्र रस नहीं होता। भाव जितना ही अधिक लोक व्यापक होगा, रसानुभूति भी उतनी ही अधिक व्यापक, गहन एवं तीव्र होगी। रस सिद्धान्त लोक पक्षी है, लोक सम्पर्क स्थापक है, लोक विमुख नहीं। इसलिए इसकी

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृष्ठ ५

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृष्ठ २२६

३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृष्ठ १४१

एक कसौटी लोक-पक्ष या लोक हृदय भी है। उनके अनुसार एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुंचाना ही कला का परम लक्ष्य होता है। प्रेषणीयता के सिद्धान्त को उन्होंने दो वर्गों में विभाजित कर दिया है—अनुभूति तथा भाषा एवं शैली। अनुभूति का प्रेषण होता है। यह प्रेषण कार्य भाषा शैली के माध्यम से किया जाता है। उनके अनुसार अनुभूति सारे विश्व में व्याप्त होती है। कविता का सम्बन्ध उन्होंने ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से माना है। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है तो काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।[1] शुक्लजी ने काव्य में वक्रता एवं चमत्कार को भी कुछ सीमाओं के साथ आंशिक रूप में स्वीकार किया है। चमत्कार का स्वरूप निर्धारण उन्होंने इस प्रकार किया है।[2] चमत्कार से हमारा तात्पर्य उस उक्त चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में) शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचन भंगी (जैसे, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं। इसी चमत्कार के आश्रय से काव्य को धार्मिक एवं प्रभावशाली बनाया जा सकता है। शुक्ल जी की यही धारणा है। वे कहते हैं, मेरा अभिप्राय कथन के उस ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को धार्मिक और प्रभावशाली बना देता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा-व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का।[3] चमत्कार एवं उक्ति वैचित्र्य का समावेश कविता में उसकी प्रभावशीलता की वृद्धि करने के लिए ही होना चाहिए, न कि पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए अथवा केवल शौक के लिए। काव्य की इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उन्होंने काव्य को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है — १–जिसमें केवल चमत्कार या वैलक्षण्य हो। २–जिसमें केवल रस या भावुकता

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : तुलसीदास, पृष्ठ ९२
२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृष्ठ २२०-२३०
३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : तुलसीदास, पृ० १८१

हो। ३–जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों।[1] इसी प्रकार उन्होंने कवियों की भी तीन श्रेणियाँ बनाई है—कुछ तो नर-प्रकृति के वर्णन में ही अधिकतर लीन रहते है, कुछ बाह्य प्रकृति के वर्णन में और कुछ दोनों में समान रुचि रखते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक एवं विस्तृत है। काव्य का विषय, उनके अनुसार, जितना ही व्यापक होगा, काव्य दृष्टि भी उतनी ही व्यापक एवं गंभीर होगी। काव्य की प्रभावशीलता की वृद्धि के लिए उन्होंने कल्पना की अनिवार्यता भी स्वीकार की है क्योंकि गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध जीवन के तथ्य सामने रखकर जब कल्पना मूर्त-विधान में और हृदय भाव संचार में प्रवृत्त होते हैं तभी मार्मिक प्रभाव उत्पन्न होता है। जो लोग काव्य में कल्पना के प्रयोग के विरुद्ध हैं, उनको शुक्ल जी का यह कड़ा उत्तर है।

शुक्ल जी ने काव्य का उद्देश्य केवल चमत्कार एवं मनोरंजन ही नहीं स्वीकार किया है। सहृदय सहानुभूति में तल्लीन हो जाए-काव्य का यही चरम लक्ष्य है। इसीलिए काव्य और सूक्ति में उन्होंने अन्तर स्वीकार किया है। ऐसी उक्ति, जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि पर विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो काव्य है। जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करें, वह सूक्ति है।[2] काव्य के रचनात्मक उपादानों पर भी-शुक्ल जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। भाव की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है : प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेग युक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है। भाव का विश्लेषण करने पर, इस प्रकार शुक्लजी ने, तीन अंग स्पष्ट किए हैं। वह जो प्रवृत्ति या संस्कार रूप में अंतस्सत्ता में रहता है (वासना) इसे (Instinct) कहते हैं। वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली की भूमिका: पृ०२२०

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, पृ० २३१-२३४

है और भाव का प्रकृत स्वरूप है। (भाव, आलम्बन आदि की भावना)। वह अंग ओ आकृति आचरण आदि में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)। शुक्ल जी द्वारा किया गया भावों का यह वर्गीकरण नितान्त मौलिक नहीं है। पश्चिमी आचार्यों ने भी पहले ही इस प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किये थे। शैंड ने इसको इस प्रकार व्यक्त किया है। "Thus the three distinguishable parts of the system of the emotion, the emotion itself, the process connected with it in the organism, and its outword expression and modes of behaviour, all belong together and form one system."

शुक्ल जी ने कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष बताए हैं—भाव पक्ष और विभाव पक्ष। काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम होता है। इसी और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपनी धारणा प्रकट की है कि काव्य में विभाव को मुख्य समझना चाहिए। रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य क्षेत्र है। उन्होंने विभाव के दो पक्ष स्वीकार किये हैं: आलम्बन और आश्रय। इसमें भी उन्होंने आलम्बन को ही प्रमुख माना है। उन्होंने स्थायी भाव के लक्षणों की परीक्षा मनोविज्ञान की कसौटी पर की है, और स्थायी भाव के दो प्रमुख लक्षण बताए हैं। स्थायी भाव शब्द से अभिप्राय किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य से बना रहना कि उसके उपस्थिति काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके आधीन प्रकट हों और वह ज्यों का त्यों बना रहे। दूसरे किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें।[१] इस प्रकार शुक्ल जी के अनुसार स्थायी भाव एक भावकोश या भाव-प्रणाली है।[२] भावों की उन्होंने तीन स्थितियाँ मानी हैं: क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा। हाव की गणना उन्होंने विभावों के अन्तर्गत की है। यह शुक्ल जी का नया मत है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों में इसकी गणना अनुभावों के अन्तर्गत की गई है। शुक्ल जी के अनुसार चूँकि अनुभाव

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० १६२

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० १७०

भाव के सूचक हैं। मूल भाव को पुष्ट करने वाला, तीव्र करने वाला, व्यापक बनाने वाला, प्रभविष्णु करने वाला मनोविकार ही संचारी भाव है। इस दशा में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भावों का पारस्परिक सम्बन्ध संश्लिष्ट कोटि का हो जाता है। साधारणीकरण के विषय में उनका मत है कि जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्णशक्ति नहीं आती। इस काव्य रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[१] किसी भाव का साधारणीकरण होना ही रस दशा है। रस दशा का वास्तविक अर्थ है हृदय में लीन होना। शुक्ल जी के अनुसार यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।[२] इस प्रकार साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं। विशेष रूप चित्रण करने में भी—"भाव" के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी वह 'साधारणीकरण' हो सकता है। साधारणीकरण के लिए भाव आलम्बन का विशेष होना अनिवार्य है पर उसमें प्रतिष्ठता शील, गुण, रूप कर्म आदि सामान्य धर्मों की होनी चाहिए।

इस प्रकार कविता का भावोद्रेक की स्थिति में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। शुक्ल जी के अनुसार कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भाव योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती। उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।[३] अतः काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृष्ठ २२७

२ वही, पृष्ठ २२७

३ वही, पृष्ठ २१९

गोचर रूप में लाकर सामने रखना। जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उससे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व हृदय भगवान के लोक रक्षक और लोक रंजक हृदय से जा मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है।[१] कवि एवं काव्य की ऐसी उल्लेखनीय स्थिति में यदि कवि के भावों का सरलता एवं स्पष्टता के साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता तो उनका काव्य व्यर्थ है। कवि की स्थिति नगण्य हो जाती है।

यह तो हुई शुक्ल जी की कुछ शास्त्रीय मान्यताएं, जिन पर ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने साहित्यिक विधाओं एवं उसकी प्रवृत्तियों पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। समालोचना के सम्बन्ध में उनका विचार है कि ठीक-ठिकाने से चलने वाली समीक्षाओं को देखकर जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असम्बद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अंग्रेजी के अथवा बंगला के समीक्षा क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदग्ध, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य लाकर खड़ी की जाती है। कहीं-कहीं तो किसी अंग्रेजी कवि के सम्बन्ध में की हुई समीक्षा का कोई खण्ड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिन्दी कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भी घर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झांक रहे हैं। पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोइ लगाव नहीं।[२] अन्त में अपने मंतव्य को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि इस प्रसंग में इतना लिखने का प्रयोजन केवल यही है कि यूरोप के साहित्य क्षेत्र में फैशन के रूप में प्रचलित बातों को कच्चे-पक्के ढंग से सामने लाकर कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा करना अपनी मस्तिष्कशून्यता के साथ ही साथ समस्त हिन्दी पाठकों पर मस्तिष्क-

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ४०-५१

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी) पृष्ठ ५६३

शून्यता का आरोप करता है। काव्य और कला पर लिखने वाले बड़े-बड़े लेखों में आवश्यक अभिज्ञता और स्वतन्त्र विचार का अभाव देख दुख होता है। इधर कुछ दिनों से "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" की बड़ी धूम है। जिसे कुछ लोग शायद उपनिषद् वाक्य समझकर "अपने यहाँ भी कहा है" लिखकर उद्धृत किया करते हैं। यह कोमल पदावली ब्रह्मसमाज के महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की है और वास्तव में The true, the Good and the Beautiful का अनुवाद है। बस इतना और कहकर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ कि किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा करकट के रूप में न इकट्ठी की जाए। उसकी कड़ी परीक्षा हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय; जिससे हमारे साहित्य के स्वतन्त्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचे।[१] दुर्भाग्य से हिन्दी आलोचना में अभी भी वही स्थिति बनी हुई है, और यदि शुक्ल जी आज जीवित होते, तो उन्हें इस बात पर भयंकर संताप होता कि उन कुप्रवृत्तियों का परिष्कार अभी भी नहीं संभव हो सका है। शुक्ल जी के इस कथन में पर्याप्त सच्चाई है कि इसे साहित्य की अपनी उन्नति और प्रगति नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ साहित्य मौलिक ही हो सकता है, कोई और नहीं। इसी प्रकार आलोचना का श्रेष्ठ रूप तभी प्रस्तुत किया जा सकता है, जब आलोचक में अपनी मौलिक सूझ-बूझ हो और विषय को समझने और उसका विश्लेषण करने की क्षमता हो।

उपन्यासों के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कहना है कि वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खान-पान के व्यवहार तक में जो भद्दी नकल होने लगी है गर्मी के दिनों में भी सूट-बूट कसकर टेबुलों पर जो प्रीतिभोज होने लगा है उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी कभी

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी), पृष्ठ ५७६

निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।[1] यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में उपन्यासों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक रूप विधान में आवश्यकतानुसार परिवर्तन लाने का कार्य उपन्यास ही कर सकते हैं, ऐसा उनका विश्वास था। पर उपन्यासकार अपना सम्बन्ध राजनीति से स्थापित करे, यह उन्हें स्वीकार न था। उन्होंने लिखा है, "इस सम्बन्ध में हमारा केवल यही कहना है कि हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। ....हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर आपको देखनी चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न रहना चाहिए।"[2] शुक्ल जी के इस मत के सम्बन्ध में कोई दो राय हो ही नहीं सकती। साहित्य राजनीति से जितना ही दूर रहता है, उतना ही उसमें कलात्मकता की अभिवृद्धि होती है और प्रचारवादिता की नीरसता से बचा रहता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उपन्यासों में राजनीति का उपयोग न हो और निश्चित रूप से हो, पर केवल आवश्यकतानुसार। जब प्रचार एवं मत प्रसार उपन्यासकार का दृष्टिकोण बन जाता है तो उपन्यास के वास्तविक स्वरूप की हत्या हो जाती है। निबंधों के सम्बन्ध में उनका मत है कि यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसीलिए गद्यशैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं। आश्चर्य है कि शुक्ल जी ने केवल निबंधों को भाषा की ही दृष्टि से परखा है। निबन्धों पर लेखक के व्यक्तित्व का भी पूर्ण प्रभाव पड़ता है, इसकी ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है।

काव्य के 'वादों' के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि जीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिए पुकार सुनाई पड़ती है तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिए सब क्षेत्रों

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, (काशी), पृष्ठ ५३६

२ वही, पृष्ठ ५०५

में स्वतः एक चरम साध्य बन जाता है। 'क्रान्ति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रलय की पूरी मदावली के साथ व्यक्त की गई। इस कामना के साथ कहीं-कहीं प्राचीन के स्थान पर नवीन के दर्शन की उत्कंठा भी प्रकट हुई। सब बातों में परिवर्तन हो परिवर्तन की यह कामना कहाँ तक वर्तमान परिस्थिति के स्वतन्त्र पर्यालोचन का परिणाम है और कहाँ तक केवल अनुकृत है, नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य दिखाई पड़ता है कि इस परिवर्तन वाद के प्रवर्तन की प्रवृत्ति अधिक हो जाने से जगत् और जीवन के नित्य स्वरूप की वह अनुभूति नए कवियों में कम् जग पाएगी जिसकी व्यंजना काव्य को दीर्घायु प्रदान करती है।[1] शुक्ल जी ने समकालीन काव्य प्रवृत्तियाँ; यथा छायावाद, रहस्यवाद आदि को परिवर्तनशीलता के इसी आग्रह से सम्बन्धित किया है। उनके अनुसार छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था। 'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखला चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओं की दुराख्ढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गार तक ही काव्य की गति विधि प्रायः बंध गई।[2] रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएं पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध-आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी।[3] शुक्ल जी ने कलावाद और अभिव्यंजनावाद के हिन्दीकाव्य पर पड़ने वाले प्रभाव को भी स्पष्ट किया है। इसका पहला प्रभाव तो यह पड़ा था कि भावानुभूति के स्थान पर कल्पना-विधान को ही प्रमुखता प्रदान की जाने लगी थी। कल्पना अभिकृत अप्रस्तुतों की योजना करते तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी), पृष्ठ ६४६

२ वही, पृष्ठ ६५०

३ वही, पृष्ठ ६६८

लाने में ही प्रमुख हुई। फिर अभिव्यंजना प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। इस प्रकार शुक्ल जी साहित्य के सभी अंगों एवं समस्याओं पर अपने विद्वतापूर्ण एवं सुलझे हुए विचार प्रकट किए हैं और उनके समर्थन में पर्याप्त तर्क उपस्थित किए हैं।

शुक्लजी सच्चे अर्थों में महान् आलोचक थे। उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का अत्यन्त प्रौढ़ एवं संतुलित रूप प्रस्तुत किया। उनकी आलोचना प्रणाली चलती हुई परंपरा का चरमोत्कर्ष है। उन्होंने अपनी आलोचना शैली को भरसक वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक बनाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए वह सप्रयत्न प्रतीत होती है, स्वयंभव नहीं। उस पर उनके पांडित्य, विशद ज्ञान, गहन अध्ययन और बहुज्ञता की छाप है। अपनी व्यावहारिक समीक्षा को उन्होंने परंपरागत साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों से समन्वित किया था। उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा का भी समन्वय किया और उनको एक ही स्तर पर प्रस्तुत किया, जिससे विरोधाभास की स्थिति नहीं उत्पन्न हुई है। उनकी शैली पर अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति का भी प्रभाव है। कहीं-कहीं अपने विचारों को उन्होंने सोधारियों की सी शैली में प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं शुक्लजी आवश्यकता से अधिक कटु हो गए हैं और अपने को पूर्वाग्रहों से भी नहीं मुक्त कर पाए हैं। वे सदैव ही तुलसीदास को सूरदास की अपेक्षा श्रेष्ठ कवि समझते रहे और अपने इस आग्रह को सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रत्येक संभव उपायों को नहीं छोड़ा था। न्यायपूर्ण आलोचना प्रणाली के लिए यह अनुचित है। अपने रस सम्बन्धी विवेचन के लिए शुक्लजी को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों एवं पश्चिमी काव्यशास्त्र के आचार्यों के सिद्धान्तों के गहन अध्ययन के पश्चात् अपने मौलिक निष्कर्ष निकाले थे और उनके लिए पर्याप्त तर्क दिए थे। ऐसे स्थलों पर उनकी शैली वकीलों की सी लगती है। एक मत देकर उसकी आलोचना करना, फिर उसे काटकर दूसरे मत की भी ऐसी ही परीक्षा करना और पूर्ण समर्थित पृष्ठभूमि में अपने मत को प्रस्तुत करना—इस कला में शुक्लजी ने विशेष दक्षता प्रदर्शित की है। उनकी आलोचना प्रणाली में समन्वयादी, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, प्रशंसात्मक और श्रेणी निर्धारण की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं और सभी विषयानुकूल उन्होंने प्रयोग किया है। शुक्ल जी की समीक्षा एक प्रकार से इतिवृत्तात्मक है। उन्होंने वस्तु और स्वरूप को स्पष्ट करने का अधिक प्रयत्न किया है।

वर्ण्य विषय और कवि व्यक्तित्व के स्थूल तत्वों के स्पष्टीकरण की भी प्रवृत्ति शुक्लजी में अधिक मात्रा में लक्षित होती है। उन्होंने कभी आलोचना में अनाधिकार चेष्टा नहीं की है और न कभी अपने आलोचक उत्तरदायित्व से विमुख होने का प्रयत्न किया है। नीतियों का पालन करते हुए अपनी आलोचना प्रवृत्ति में उदारता, सहिष्णुता और सहानुभूति का उन्होंने प्रशंसनीय समन्वय किया है। उन्होंने कभी वस्तु की सीमाओं का अतिक्रमण कर छिद्रान्वेषण का प्रयत्न नहीं किया है, यह उनकी श्रेष्ठता का परिचायक है।

— —

६

साहित्य रूप : आलोचना सिद्धान्त

पिछले अध्यायों में आलोचना के महत्व, स्वरूप विषय-विस्तार एवं प्रकार आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, इसके साथ ही पश्चिमी एवं भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में विभिन्न साहित्य रूपों के आलोचना सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, जिससे आलोचना सिद्धान्त अपने पूर्ण रूप में स्पष्ट हो सके। इन साहित्य रूपों के आलोचना सिद्धान्तों को समझ लेने से हिन्दी आलोचना के विकास का पूर्ण रूप समझने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होगी। विभिन्न साहित्य रूप इस प्रकार हैं—

१—साहित्य
२—काव्य
३—उपन्यास
४—कहानी
५—निबन्ध
६—नाटक

इनमें भी काव्य के तीन रूप हो जाते हैं—गीति काव्य, महाकाव्य और खण्ड काव्य। इसी प्रकार नाटक के भी दो रूप हैं—नाटक और एकांकी इन सभी के आलोचना सिद्धान्तों का विवेचन आगे के पृष्ठों में किया गया है।

साहित्य का स्वरूप

साहित्य क्या है, उसका स्वरूप किस प्रकार का है, इस विषय पर शताब्दियों से विद्वानों का वर्ग अपना-अपना अभिमत प्रकट करता आया है। साहित्य का क्षेत्र वस्तुतः अत्यन्त विस्तृत है। संस्कृत आचार्य तो साहित्य

को काव्य के पर्यायवाची रूप में मानते थे। साहित्य वास्तव में मानव समाज की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है. साहित्य जीवन की आलोचना करता है। साहित्य मानव जीवन की भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। साहित्य मानवीय भावनाओं का लेखा-जोखा होता है। साहित्य समकालीन समाज और मानव जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। राजशेखर ने साहित्य की परिभाषा में कहा है : 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।' अर्थात् शब्द एवं अर्थ के संयोग से जो साहित्यिक विधा उत्पन्न होती है वह साहित्य है। आचार्य कुन्तक ने भी कुछ इसी प्रकार कहा है :

साहित्यमनयो शोभाशालिताम् प्रति काप्यसौ
अन्यूनानातिरिक्तत्वम् मनोहारिण्यवस्थिति :

अर्थात् साहित्य में शब्द और अर्थ की मनोहर एवं श्लाघनीय स्थिति होती है। 'शब्द कल्पद्रुम' में कहा गया है : 'मनुष्यकृतश्लोकमय ग्रन्थ विशेष विशेष : साहित्याम्' अर्थात् मनुष्य कृत वह ग्रन्थ जो श्लोकमय है, साहित्य कहा जा सकता है। कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं। डॉ० श्याम सुन्दर दास ने माना है कि साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को क्षणभर के लिए भूल सकता है। वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अन्तर्गत उन्हीं पुस्तकों की गणना हो सकती है जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती हैं या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रखकर रखी गई हैं। मुन्शी प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है कि साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध रूप में हो, चाहे कहानी के या काव्य के; उसे हमारे जीवन की आलोचना या व्याख्या करनी चाहिए। डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार साहित्य के माध्यम द्वारा केवल भाव का भाव के साथ तथा भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं होता, वरन् मानव का मानव के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, बाह्य का अन्तर के साथ मिलन होता है।

इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि 'मनुष्य के सार्थक एवं सर्वोत्तम विचारों की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है। जातीय विशेषताओं व्यक्तियों और सामाजिक वर्ग के कारण उसके विभिन्न रूप हो जाया करते हैं। प्रत्येक साहित्य में उस काल का जीवन छिपा रहता है, क्योंकि साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए वह राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। वह जीवन दर्पण है। साहित्य की कसौटी ही किसी जाति की सभ्यता की कसौटी है। असभ्य जातियों में लिखित साहित्य का अभाव रहता है। सभ्य जातियाँ प्रगति करती हैं। कालान्तर उनका साहित्य भी प्रगति करता है। इसलिए हम उन्हें सभ्य कहते हैं। काल के अनुसार यदि साहित्य न बदला तो वह जाति के पतन का प्रतीक बन जाता है, क्योंकि उसका मनुष्य के संस्कारों और विचार-परंपरा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वास्तव में जीवन से साहित्य की उत्पत्ति होती है और अन्त में साहित्य से जीवन प्रभावित होता है। देश या जाति के जीवन और साहित्य में सामंजस्य रहना ही साहित्य और जीवन दोनों के विकास का राजमार्ग है। यहाँ कुछ पश्चिमी विद्वानों की परिभाषाओं पर विचार कर लेना उचित होगा। मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार साहित्य जीवन की व्याख्या करता है। एक अन्य विचारक के अनुसार 'विभिन्न साधनों' में साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें काल विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति परिलक्षित होकर राजनीतिक आन्दोलन, धार्मिक विचार, दर्शन और कला के रूप में प्रकट होती है।'[1] एक अन्य सुधिज्ञ के अनुसार, 'साहित्य वह संगीत है जो कि मानव के अन्तस्तल से इसलिए निसृत होता है कि वह भाषा के माध्यम से जीवन के साथ अपना

1 "Literature is only one of the many channels in which the energy of age discharges itself in its political movement a religious thought phiposokhical specula tion and art we. have the same energy over flowing into other forms of expression."

—विलियम हेनरी हडसन एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (मार्च १९६०), लन्दन, पृष्ठ ७

सामंजस्य स्थापित कर सके।'[1] इन परिभाषाओं से इतना स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। मेरे विचार से साहित्य मानवीय जीवन का वह प्रतिबिंबित रूप है जिसमें मानव संवेदन, हार्दिक अनुभूतियों एवं कार्य-व्यापारों का अंकन होता है। कला अपनी चरम अभिव्यक्ति साहित्य में ही पाती है।

साहित्य और विज्ञान

साहित्य और विज्ञान के स्वरूप में तात्विक अन्तर होते हुए भी दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज का युग विज्ञान का युग है। नित नए प्रकट होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानवीय चेतना को इस सीमा तक प्रभावित कर लिया है कि उसके द्वारा रचा जाने वाला साहित्य विज्ञान के संस्पर्श से अछूता नहीं रह सकता। साहित्य विज्ञान से प्रेरणा लेता है और अपने को अधिकाधिक तर्कसंगत एवं स्वाभाविक बनाता है। विज्ञान साहित्य की भावनात्मकता को ग्रहण कर अपने को अधिक सरस एवं उपयोगी बनाने का प्रयत्न करता है। परन्तु इतना स्पष्ट है, दोनों एक दूसरे के ऊपर आश्रित नहीं हैं। साहित्य हृदय से भावनात्मकता से एवं कल्पनाशीलता से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। विज्ञान के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। वह तर्क एवं बौद्धिकता से सम्बन्धित है। विज्ञान किसी तथ्य के यथार्थ में जाता है, जबकि साहित्य यथार्थ के साथ उसके आदर्श में भी जाता है। विज्ञान ने यदि अणु शास्त्रों का आविष्कार किया है तो उसका संबंध केवल उसके सैद्धांतिक रूप से ही है। वह इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं देगा कि अणुअस्त्रों के आविष्कार से जन-जीवन में कितनी तबाही मची हुई है, और उससे संहार, हिंसा, घृणा, द्वेष, शक्ति असंतुलन आदि अनेक विकृतियों का आविर्भाव हो सकता है। पर साहित्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वह पहले इन्हीं समस्याओं पर महत्वपूर्ण ढंग से विचार करेगा और उसकी भयानकता से सबको अवगत कराने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार विज्ञान जीवन का विश्लेषण मात्र करता है। पर साहित्य जीवन और समाज की अभिव्यक्ति करता है। विज्ञान पर प्रमुख रूप से वाह्य जगत का प्रभाव पड़ता है, किन्तु साहित्य

1 "literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the keyboard of language"

—एम० जी० भटे : लिट्रेचर एण्ड लिट्रेरी क्रिटीसिज्म

अन्तर्जगत से प्रभावित रहता है। साहित्य चिरनवीनभी है और चिरन्तन भी। हम उसे प्राचीन और नवीन का तारतम्य निरूपित करने में एक मात्र समर्थ पाते हैं। जातियों के वास्तविक इतिहास को सुरक्षित रखने का साधन साहित्य के अतिरिक्त और क्या है? राष्ट्रों के जीवन की उत्पत्ति और अवनति, आशाएं और आकांक्षाएँ साहित्य में ही चित्रित मिलती हैं। समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। भिन्न-भिन्न जातियां उत्पन्न हुईं और नष्ट हुईं आज उनकी कृतियों का पता तक नहीं है। परन्तु साहित्य में वे अब भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। विज्ञान का एक आविष्कार आज हुआ है। बस आज की बात कल भुला दी गई। परन्तु साहित्य में किसी का नाश नहीं होता। साहित्य की यह सार्वभौमिकता कभी नहीं भुलाई जा सकती' पर इस अन्तर के होते हुए भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्य और विज्ञान पूर्णतया एक दूसरे से अलग नहीं है। दोनों में सम्बन्ध है।

साहित्य और व्यक्तित्व

साहित्य और साहित्यकार के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसीलिए साहित्य पर अनिवार्य रूप से साहित्यकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। साहित्यकार इस जीवन से जो कुछ भी तत्व प्राप्त करता है। अपने गहन् अध्ययन एवं मनन-चिंतन से जो भी उपलब्धियां ग्रहण करता है, तथा अपने अनुभवों से जो निष्कर्ष निकालता है वे सब उसके बुद्धि तत्व, भाव तत्व और सौन्दर्य तत्वों में समाहित हो जाते हैं, जो मिलकर उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं। यही व्यक्तित्व साहित्य सृजन की मूल-प्रेरणा होता है जिससे साहित्य का निर्माण संभव होता है स्पष्ट है कि इस रचनाः-प्रक्रिया में साहित्यकार के व्यक्तित्व के संस्पर्श से साहित्य अछूता नहीं रह सकता। ऑस्कर वाइल्ड नामक एक प्रसिद्ध लेखक ने तो यहां तक लिखा है कि कला का उद्देश्य ही यह होता है कि वह कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ कलाकार को भी प्रकाशित करे। विलियम हेनरी हडसन के अनुसार 'शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएं लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं।' मरे नामक विद्वान् की धारणा भी इसी प्रकार की है। 'हमें शैली के विकास के लिए लेखक की भावात्मक और बौद्धिक अनुभूतियों के प्रकार पर दृष्टिपात करना चाहिए, क्योंकि यह प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में पृथक-पृथक

होता है।' इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साहित्य साहित्यकार के व्यक्तित्व से घनिष्ठ रूप में प्रभावित रहता है।

साहित्य और समाज

साहित्य वस्तुतः समाज का प्रतिबिम्ब होता है और समाज चित्त-वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए साहित्य कभी भी समाज से अलग नहीं रह सकता। समाज की यथार्थता, कटुता एवं भयंकरता में ही साहित्यकार अन्य जीव-प्राणियों की तरह अपना जीवन जीता है, अतः सामाजिक सत्यता से आँखें फेरना उसके लिए कठिन होता है। चाहे काव्य हो, या उपन्यास, कहानी हो या नाटक, यह बात सामान्य रूप से प्राप्त होती है कि सामाजिक जीवन का कुछ न कुछ प्रभाव उन पर अवश्य रहता है। ऐतिहासिक साहित्य (काव्य-उपन्यास-नाटक आदि) भी किसी युग विशेष की संस्कृति, जीवन एवं समाज के यथार्थ चित्रण को अपना आधार बनाते हैं, अतः उसमें भी सामाजिकता का संचार हो जाता है। वस्तुतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। किसी देश का समाज जितना ही अधिक प्रगतिशील होगा, वहाँ का साहित्य भी उतना ही प्रगतिशील होगा। किसी देश के साहित्य को देखकर वहाँ के सामाजिक रूप विधान के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है। अतः साहित्य और समाज के मध्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

काव्य

काव्य और साहित्य

साहित्य में काव्य का अत्यतम महत्व है। संस्कृत आचार्यों ने तो काव्य को इतना महत्व प्रदान किया है कि काव्य एवं साहित्य को पर्यायवाची शब्द स्वीकार कर लिया है। उन्होंने वस्तुतः काव्य एवं साहित्य में कोई मूलभूत अन्तर नहीं माना है। इसीलिए जो परिभाषा उन्होंने काव्य की दी है, वही साहित्य की भी। इन आचार्यों में राजशेखर, मुकुलभट्ट और मंखक आदि प्रमुख हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार 'भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि संग्रह ही साहित्य है। इसी विचार से संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूलरूप में वही काव्य है। किसी देश विशेष में किसी काल विशेष में अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे जाते हैं। वे ही उस देश के उस काल के साहित्य कहलाते हैं।

साहित्य और काव्य में केवल व्यावहारिक भेद मानना चाहिए।' स्पष्ट है काव्य साहित्य का व्यष्टि रूप है। इसे और भी स्पष्ट रूप में कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि काव्य साहित्य का व्यापकतम रूप है। किसी देश में काव्य-कृतियों का निर्माण होता रहता है और यही सृजन प्रक्रिया अपने संगृहीत रूप में आगे चलकर साहित्य का रूप धारण कर लेती है। यह काव्य सृजन कभी गद्य रूप में होता है तो कभी पद्य रूप में। यह लेखकीय माध्यम का स्वरूप है। काव्य का स्वरूप अत्यन्त ही विस्तृत होता है, जिसमें श्रव्य काव्य एवं दृश्य काव्य दोनों का ही समावेश हो जाता है। इस प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि काव्य और साहित्य समानार्थी हैं। काव्य ग्रन्थों का प्रणयन ही साहित्य सृजन का प्रारम्भिक स्वरूप है। प्राय: भ्रमवश काव्य को कविता के अर्थ में समझ लिया जाता है, पर यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। जैसा कि अभी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। उसे कविता के संकुचित अर्थ में ग्रहण करना तर्कहीन एवं हास्यास्पद है।

अब प्रश्न उठता है, काव्य का स्वरूप क्या है? अर्थात् काव्य की परिभाषा क्या हो? श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

—गीता १७।१५

अर्थात् काव्य अनुद्वेगपूर्ण होता है, एवं उसमें सत्यं, शिवम् एवं सुन्दरम् की भावना का समावेश होता है। भामह ने काव्य को, 'शब्दार्थो संहितो काव्यम्' कहा है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्य के सम्बन्ध में कहा है—

मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकपेक्षकाणाम्॥

अर्थात् काव्य मृदु एवं ललित पदों से युक्त होता है। गूढ़ एवं दुरूह शब्द एवं अर्थ का उसमें समावेश नहीं होता है। काव्य सबके लिए आनन्दायक होता है। वह रस की ऐसी अविकल धारा का प्रवाह करता है, जिसका नृत्य में सफलतापूर्वक प्रयोग होता है, तथा वह सन्धियों के सन्धान से पूर्ण होता है। जिस काव्य में इन सभी विशेषताओं का समावेश होता है, उसे ही श्रेष्ठ काव्य की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। काव्य के सम्बन्ध में

पाश्चात्य विचारकों ने भी बहुत कुछ कहा है[1] जिससे उसके स्वरूप को स्पष्टतापूर्वक समझा जा सकता है।

काव्य का कलापक्ष

काव्य का कलापक्ष काव्य के बाह्य सौन्दर्य को बढ़ाता है, और उसमें उत्कर्षभाव उत्पन्न करता है। काव्य के कलापक्ष के अनेक अंग होते हैं—

१ छन्द विधान
२ अलंकार विधान
३ रस निष्पत्ति
४ भाषा-शैली
५ गेयता

काव्य के लिए लय की तीव्र आवश्यकता होती है। कवि अपने भावों के समुचित प्रकाशन के लिए अनुकूल छन्द का आश्रय ग्रहण करता है। नाद और लय में अपार समर्थता होती है, फलस्वरूप छन्द मन को भावनाशील और

---

1 (i) "Poetry is simply the most delightful and perfect form of utterance that human words can reach."
—मैथ्यू आर्नाल्ड

(ii) "A poem is that species of composition which is opposed to works of science by proposing for its immediate object pleasure and not truth."
—कॉलरिज

(iii) "Poetry in a general sense may be defined to be the expression of the imagination, poetry is ever accompanied with pleasure."
—शैली

(iv) "Poetry is to be defined as an art, the fundamental principle of which is imitation-that imitation being through the medium of language."
—अरस्तू

(v) "By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination the art of doing by means of words what the painter does by means of colour."
—मेकॉले

संवेदनशील बनाने में सहायक होते हैं। अलंकारों का काव्य में क्या महत्व है, इस पर संस्कृत आचार्यों—विशेषरूप से अलंकारवादियों ने अत्यधिक विचार किया है। काव्य की आत्मा तक अलंकार स्वीकार किया गया है। अलंकारों से ही काव्य में गरिमा और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। अर्थोत्कर्ष में भी अलंकार सहायक होते हैं। कहा जाता है कि अलंकार कृत्रिमता उत्पन्न करते हैं, पर यदि यह उचित है, तो यह भी सत्य है कि अलंकार काव्य की शोभा हैं। हाँ अत्यधिक अलंकारवादिता काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि करने के बजाय उसे समाप्त ही कर देता है। काव्य में रसनिष्पत्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। रसवादी भरत, भट्टलोल्लट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने तो रस को काव्य की आत्मा माना है। काव्य में रस की अनिवार्यता सभी ने स्वीकार की है। बिना रसबोध के काव्य महत्वहीन हो जाता है। रस का सहृदयजनों में जब साधारणीकरण हो जाता है, तभी काव्य की सफलता मानी जाती है। 'कलापक्ष में भाषा का भी अध्ययन आता है। काव्य के माध्यम से प्रसंग, स्वभाव, भावना, विचार अन्तर्द्वन्द्व इत्यादि भाषा में द्योतित होते हैं, अतः भाषा काव्य या साहित्य का व्यवहार पक्ष है। काव्य में किस भाषा का उपयोग हो, इस सम्बन्ध में कोई भी नियम बनाना कठिन है, परन्तु लय-बद्ध 'नादानुकूल' अलंकारिक एवं व्यंजक भाषा आदर्श काव्य भाषा है। भाषा भावाभिव्यक्ति का एक साधन है, परन्तु यह एक अत्यन्त लचीला साधन है। व्यक्ति के मन-संगठन एवं स्वभाव का परिणाम ही उसकी भाषा-शैली है। अतः भाषा-शैली में व्यक्तित्व का सम्पूर्ण प्रकाश है और उसके माध्यम से व्यक्तित्व का भी अध्ययन हो सकता है।' शब्दार्थ भाषा सम्बन्धी विशेषता की अभिवृद्धि करते हैं। योग्य सार्थक एवं भावाभिव्यक्ति की समर्थता से पूर्ण शब्दों के प्रयोग से भाषा की प्रवाहमयता एवं सरसता तथा सप्राणता में अभिवृद्धि होती है। गेयता का आधार नाद-माधुर्य है। अनुकूल एवं सार्थक शब्द योजना से माधुर्यमयी भावना का सृजन होता है, इससे गेयता घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होती है। गेयता के गुण आ जाने से काव्य में मधुरिमा उत्पन्न हो जाती है, जो एक प्रकार से रस बोध के साधारणीकरण में भी सहायक होती है। कलापक्ष के अन्तर्गत इन्हीं पाँच तत्वों का अध्ययन होता है। पर यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि कलापक्ष से केवल काव्य के वाह्य सौन्दर्य में ही वृद्धि होती है। काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य तो भावपक्ष ही बढ़ाते हैं। अतः श्रेष्ठ काव्य के लिए कलापक्ष एवं भावपक्ष का परस्पर समन्वय आवश्यक एवं वांछनीय होता है।

काव्य का भाव पक्ष

काव्य के भावपक्ष से अभिप्राय काव्य की अन्तरात्मा से होता है। भाव पक्ष के अन्तर्गत काव्य के भावबोध, रसबोध,कवि द्वारा अभिव्यक्त संवेदनाजन्य अनुभूतियों एवं भावात्मकता का अध्ययन होता है, जो मिलकर काव्य की आत्मा का सृजन करते हैं। 'भावपक्ष का सर्वश्रेष्ठ रूप रस-निष्पत्ति है। भाव इस कोटि पर पहुँच कर ही आस्वाद्य बनते हैं। फलतः साहित्य या काव्य के अन्तर में भाव की ही प्रतिष्ठा है। रस-निष्पत्ति मुख्यत: भावना के परिपोषण और उसके आस्वादन पर अवलम्बित है। मानवीय अन्तःकरण में अनेक भावनाओं का एक समुद्र सदैव हिल्लोलित है। इस भाव समुद्र में अनेकानेक लहरियां उठा करती हैं। परन्तु सभी क्षुद्र और क्षण जीवी भावनाएँ 'रस' नहीं बन पातीं। जो भावना स्थायी, मूलभूत और व्यापक होगी, वही परिपुष्ट होकर रस निष्पत्ति में समर्थ होगी।' अत: रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में इन भावनाओं का अत्यधिक महत्व होता है। भाव पक्ष में रस निष्पत्ति के पश्चात् दूसरी महत्व-पूर्ण बात है कल्पना। कल्पना काव्य में अपूर्वत्व की स्थापना करती है। कल्पना के ही माध्यम से काव्य के सौन्दर्य बोध में अभिवृद्धि होती है और कल्पना से ही कवि नए-नए चित्ताकर्षक सजीव चित्र उपस्थित करता है, जो एक प्रकार से रसबोध में ही सहायक होते हैं। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि काव्य में विचार गौण होते हैं, भावना या कल्पना प्रधान। पर यह कल्पना बेढंगी या सारहीन नहीं होती,क्योंकि ऐसी स्थिति में तो फिर वह रसबोध में सहायक नहीं हो सकेगी, बल्कि सत्य से सम्बन्धित होती है। सत्य के भी दो रूप होते हैं। एक का सम्बन्ध भाव जगत से होता है, दूसरे का वस्तु जगत से। इनमें महत्व किसका अधिक है, यह प्रतिपादित करना कठिन है। दोनों में परस्पर आदान प्रदान होता है और कल्पना तथा सत्य में परस्पर सामंजस्य होता है। कल्पना के दो प्रमुख उपकरण होते हैं—रूपक और प्रतीक। इनके समावेश से काव्यगत सत्य-सौन्दर्य एवं आकर्षण में अभिवृद्धि होती है। भावपक्ष का तीसरा अंग विचार एवं अनुभूति है। प्रायः आलोचक भावपक्ष के अन्तर विचार एवं अनुभूति का विवेचन इसलिए नहीं करना चाहते क्योंकि बुद्धि की प्रक्रिया है, और बुद्धि की भावुकता से सहज शत्रुता है। पर यह पूर्णतया भ्रममूलक धारणा है। काव्य कभी भी विचार शून्य नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में तो फिर वह तर्कहीन हो जाएगा, साथ ही विवेक शून्य भी। स्पष्ट है ऐसे काव्य का कोई महत्व नहीं होगा। अतः काव्य की आत्मा

उसका भावपक्ष है। भावपक्ष के तीन पक्ष हैं—भावना, कल्पना और विचार। भावना रस निष्पत्ति से संबन्धित होती है।

काव्य और कल्पना

पश्चिमी विद्वानों ने काव्य में कल्पना का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया है। कल्पना बोधवृत्ति है, जिसका प्रमुख कार्य संश्लेषण मूर्ति विधान है। कल्पना शब्द की उत्पत्ति 'क्लृप' धातु से हुई है, जिसका तात्पर्य है अर्थ की अभिव्यक्ति करना। कल्पना का सृजन मानस में होता है, अतः वह मानसिक है। अप्रत्यक्ष वस्तुओं को मानस में प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित करना ही कल्पना का प्रमुख कार्य है। कल्पना से ही रसबोध होता है। रस-बोध काव्य का प्रमुख उद्देश्य होता है, अतः कल्पना रसबोध की प्रक्रिया में अनिवार्य माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गई है। ऐसी बहुत सी बातें हैं, जिन्हें कवि अपनी आँखों से नहीं देखता। कवि नहीं जानता कि राम ने वास्तविक जीवन किस प्रकार जीया था? सीता का वास्तविक स्वरूप क्या था? राम रावण का जो युद्ध हुआ था, उसकी भयंकरता क्या थी? या फिर कवि सिर्फ चन्द्रमा को देखता है? विरहिणी नारी के ऊपर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, इसे कवि किसी विरहिणी नारी से पूछने नहीं जाता। इन सबको अपने मानस में वह कल्पना के माध्यम से ही देखता है, और उन्हें काव्य के माध्यम से काव्य में सजीव करता है। कल्पना कवि की तीसरी आँख होती है, जो उसे उन तथ्यों का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन कराती है, जिसे स्वयं उसकी अपनी दो आँखें देखने में असमर्थ रहती हैं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कल्पना कवि को अपने पंखों पर सवार कर अतीत और भविष्य की सीमाओं में ले जाती है और उसे उन सभी रहस्यमय वस्तुओं से परिचित कराती है, जिसे कल्पना न होने के कारण कवि नहीं जान पाता। अतः यह जान लेना चाहिए कि कल्पना का काव्य की सृजन प्रक्रिया में स्थायी महत्व होता है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत है, जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है। उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव कराना उपासना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना। जिस प्रकार भक्ति के लिए ध्यान और उपासना आवश्यक होती है उसी प्रकार भावों के प्रवर्तन के लिए भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।' कल्पना, उनके अनुसार काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष है, जिसका विधान हमारे यहाँ

के रसवादियों ने भाव के योग में ही अन्तर्भूत माना है। अतएव काव्य विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्तरूप भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है।

यह स्पष्ट है कि कल्पना सौन्दर्य बोध कराती है कल्पना के दो भेद हो सकते हैं—

१ संकल्पित (Subjective)—कल्पना जिसमें समस्त मानसिक और भावात्मक संस्कार चित्रों का प्रत्यक्षीकरण होता है, जो इस जीवन और जगत के सकल से मानव हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं।

२ असंकल्पित (Objective) कल्पना—जिसमें जीवन और वस्तुओं के बाह्य रूपों का विधान होता है।

पश्चिमी विद्वान ड्यूवर्ड स्टूवर्ट ने लिखा है कि असाधारण कल्पना ही काव्य निर्माण की प्रेरणा उत्पन्न करती है। कॉन्ट ने कल्पना के तीन वर्गीकरण किए हैं—

पुनर्निर्माण करने वाली कल्पना (Reproductive imagination); उद्भावना करने वाली कल्पना (Productive imagination)। तथा सौन्दर्य बोध कराने वाली कल्पना (Aesthetic imagination)। कॉलरिज ने कल्पना को 'फैन्सी' (Fancy) से सर्वथा भिन्न माना है। कल्पना को उसने उत्पादित शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए उसके दो भाग किये हैं— प्राथमिक कल्पना (Primary imagination) और गौण कल्पना (Secondary imagination)।[1] क्रोचे के अनुसार 'कल्पना वस्तुओं के सहज और वास्तविक रूप को ज्यों का त्यों ग्रहण करती है। विचार वस्तुओं के रूप का ग्रहण बुद्धि के माध्यम से करता है।' इन सभी विद्वानों की परिभाषा में सर्वसामान्य

1. "It is like primary imagination in kind and differs only in degree and in the mode of its operation. The difference would seem to mean that it acts in accordance with the will. The primary imagination is in voluntary, we perceive whether we wish or not."

—बैगनस : द प्रॉब्लम ऑव स्टाइल

बात यह है कि कल्पना का प्रमुख उद्देश्य मूर्त्त विधान होता है, जो व्यावहारिक एवं साहित्यिक दो प्रकार का हो सकता है। कल्पना विधायक तथा ग्राहक है और उसमें बुद्धि तत्व का भी समावेश हो जाता है।

काव्य के भेद

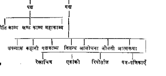
रूप, आकार, प्रवृत्ति और शैली आदि के आधार पर काव्य के अनेक प्रकार के भेद किए जाते हैं। अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद किये गए हैं—

१—श्रव्य।
२—अभिनेय।
३—प्रकीर्ण।

भामह ने काव्य के दो प्रमुख भेद किए हैं—गद्य एवं पद्य। पर स्वरूप भेद के अनुसार उसने काव्य के पाँच भेद किए हैं—

१—सर्गबन्ध (महाकाव्य)।
२—अभिनेयार्थ (नाटकादि)।
३—आख्यायिका।
४—कथा।
५—अनिबद्ध।

दण्डी ने गद्य, पद्य और मिश्र काव्य के तीन प्रमुख भेद कर बाद में उसके अनेक भेदोपभेद किए हैं। आजकल हिन्दी साहित्य में काव्य का भेद इस प्रकार किया जाता है—



गीति काव्य

गीति काव्य में भावाभिव्यंजना एवं रसबोध की उपलब्धि को उल्लेखनीय स्थान प्रदान किया जाता है। उसमें जीवन के किसी एक क्षण को ही प्रमुखता प्राप्त होती है और क्षण के भावों की कवि तीव्रानुभूति अनुभव कराने का प्रयत्न करता है। गीति काव्य में वैयक्तिक भावना का प्राधान्य होता है तथा उसमें संगीतात्मकता होती है। संक्षिप्तता के साथ उसमें एक ही भावना का चरम उत्कर्ष होता है और वृत्तियों का केन्द्रीकरण हो जाता है। अर्नेस्ट राइस ने गीति काव्य के प्रमुख तत्व भावात्मकता, शब्द और लय का परस्पर सामंजस्य, संगीतात्मकता, माधुर्य, प्रवाह एवं स्पष्टता बताए हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार गीति काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं—आत्माभिव्यंजन, भावात्मकता, गेयता, माधुर्य, शब्द चयन का सौन्दर्य, संगीतात्मकता एवं मृदुलता। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'गीति काव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है। स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता का तत्व वर्तमान रहता है। उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता तथा सुसंगठित एकता होती है जो समस्त कविता को अन्वित किये रहती है। वह एक सरल, क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम होती है।' इन सभी परिभाषाओं के आधार पर गीति काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—गीति काव्य में आन्तरिक वृत्तियों का प्रकाशन होता है। गीति काव्य में संगीतात्मकता की प्रधानता रहती है। उसमें रस बोध, भावात्मकता एवं मार्मिकता के साथ संक्षिप्तता रहती है।

महाकाव्य

महाकाव्य का स्वरूप उपन्यास की भाँति ही समझना चाहिये। उसमें जीवन के बहुविधीय पक्षों का व्यापक परिवेश में चित्रण होता है। 'विराट विश्व के हिरण्यगर्भ-कवियों ने जिस महान् सत्य, शिव और सुन्दर को मानव जीवन के लिए व्यवस्थित सुसम्बद्ध महान् काव्य कथा रूप में प्रस्तुत किया वह महाकाव्य है। उसकी अभिव्यक्ति का ढंग प्रबन्ध काव्य शैली है। महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह सभ्यता के उद्गम, संगम, प्रलय किसी महत् चरित्र के विराट उत्कर्ष अथवा आत्मतत्व के किसी चिरअनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए प्रबन्ध काव्य शैली में की जाती है।' महाकाव्य एक विषय प्रधान जिसमें काव्य है, विस्तृत धरातल

पर जीवन के बहुविधीय पक्षों का नायक के वीरोचित कार्यों एवं साहसिक उदात्त एवं प्रशान्त व्यक्तित्व के माध्यम से चित्रण होता है। महाकाव्य के आचार्यों ने निम्नलिखित लक्षण माने हैं—

१—महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है।

२—कम से कम आठ सर्ग हों। कथा सर्गों में आबद्ध होनी चाहिए। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन होना चाहिए।

३—कथावस्तु प्रसिद्ध एवं ऐतिहासिक हो। आवश्यकतानुसार प्रासंगिक कथाओं का समावेश भी होना चाहिए।

४—नायक धीरोदात्त हो, चतुर हो और उच्चवर्गीय हो। प्रायः क्षत्रिय या देवता वंश का नायक होना चाहिए।

५—शृंगार, वीर और शान्त—इन तीनों रसों में से किसी एक को रस अंगी के रूप में स्वीकार कर महाकाव्य की रचना होनी चाहिए।

६—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक फल की प्राप्ति नायक के लिए आवश्यक है।

७—उसमें नगर, पर्वत, युद्ध, संध्या, यात्रा, प्रेम, सूर्य, शशि, शिकार तथा वनादि का चित्रण होना चाहिए, जिससे रोचकता की वृद्धि हो।

रुद्रट, भामह, दण्डी, वाहन और विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों ने इसी प्रकार की मिलती-जुलती परिभाषाएं दी हैं। सभी ने महाकाव्य को एक सर्गबद्ध काव्य रचना माना है। अलंकार, छन्द एवं रस का समावेश आवश्यक माना है। नायक को वीर, साहसी, क्षत्रिय एवं देवता युक्त का माना है तथा कथा का ऐतिहासिक होना एवं उसमें जनश्रुतियों का समावेश होना भी आवश्यक समझा है।

यहाँ कुछ पाश्चात्य विचारकों द्वारा दी गई महाकाव्य की परिभाषा पर भी विचार कर लेना उचित होगा। अरस्तू के अनुसार कथावस्तु का प्रस्तुतीकरण काव्य रूप में होना चाहिए। छः पदों वाले एक विशेष प्रकार के छन्द की योजना होनी चाहिए। कथा विन्यास अत्यंत सुसंगठित हो। कथानक इतिहास समर्थित हो, जिसमें कल्पना का समावेश हो सकता है। महाकाव्य सरस एवं दुरूह-दोनों ही शैलियों में रचे जा सकते हैं। फ्रेन्च विद्वान ल बस्सु के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप प्राचीन घटनाओं के चित्रांकन के लिए एक रूपक के समान है। इसे पद्य-रूप में होना चाहिए। जिसमें युगीन संस्कृति का चित्रण हो, एक अन्य पश्चिमी विद्वान डैवनॉट का मत है कि महाकाव्य में प्राचीन घटनाओं का ही चित्रण

होना चाहिए तथा वीर एवं ओजपूर्ण भावनाओं को महत्व प्राप्त होना चाहिए। लुकन की धारणा भी इसी प्रकार की है। टेसो ने ऐसा नहीं स्वीकार किया है और महाकाव्य में प्राचीन एवं नवीन दोनों प्रकार की घटनाओं का चित्रण आवश्यक माना है। टिलियर्ड ने यह प्रतिपादित किया है कि महाकाव्य में गौरव भावनाएँ सन्निहित होनी चाहिए; उसमें समृद्धता होनी चाहिए; संयम एवं संगीतात्मकता होनी चाहिए; तथा प्रेम आदि भावनाओं का समावेश होना चाहिए। एक अन्य विद्वान ऐवर कौम्बी का विचार है कि केवल आकार-विस्तार के कारण ही किसी काव्य रचना को महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। उसकी शैली को भी महाकाव्य के अनुरूप होनी चाहिए तथा गम्भीर एवं महत्वपूर्ण तथ्यों का ही समावेश महाकाव्य में होना चाहिए। एक और सुविज्ञ सी० एम० बावरा का कथन भी इसी प्रकार है। उन्होंने भी महाकाव्य में गम्भीर एवं महत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण आवश्यक माना है तथा उसका आकार विस्तृत एवं प्रबन्धात्मक माना है। इन परिभाषाओं के आधार पर पश्चिमी महाकाव्यों का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

१. महाकाव्य का आकार विस्तृत होता है तथा उसमें प्रबन्धात्मकता होती है। यह एक वर्णन प्रधान काव्य है।
२. नायक को युद्ध प्रिय तथा वीर एवं साहसी होना चाहिए।
३. कथानक इतिहास समर्थित हो। कल्पना का भी आश्रय उसमें ग्रहण किया जा सकता है। उसमें गम्भीर एवं महत्वपूर्ण घटनाओं का ही चित्रण होना चाहिए।
४. शैली भी महाकाव्य के अनुरूप होनी चाहिए। उसमें संयम एवं संगीतात्मकता होनी चाहिए।
५. वैयक्तिक भावों की अपेक्षा जातीय भावों का चित्रण होना चाहिए।
६. कथा सूत्र नायक के साथ संबन्धित रहना चाहिए।

यदि महाकाव्य के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा की परस्पर तुलना की जाए, तो स्पष्ट होगा कि उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। दोनों ही परिभाषाओं में नायक का वीर, साहसी एवं युद्ध-प्रिय होना आवश्यक माना गया है। दोनों ही परिभाषाओं में कथानक को इतिहास समर्थित एवं काल्पनिकता से सम्बन्धित माना गया है तथा वैयक्तिक भावों के स्थान पर जातीय भावों का चित्रण महत्वपूर्ण माना गया है। हिन्दी

में, 'रामचरितमानस' 'साकेत', 'कामायनी' तथा 'प्रिय प्रवास' एवं विदेशों में होमर का 'इलियड' ,वर्जिल का 'इनियड' तथा मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' महाकाव्य की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

खण्ड काव्य

खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान जीवन के विस्तृत पक्षों का चित्रण नहीं होता और न उसका परिवेश ही उतना व्यापक होता है। साहित्य दर्पण-कार ने लिखा है ''खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च'' अर्थात् खण्ड-काव्य में देश की किसी प्रधान घटना का चित्रण होता है। आचार्य विश्व-नाथ के अनुसार 'तत्तु घटना प्राधान्यात खण्डकाव्यमिति स्मृतम्' . अर्थात खण्ड काव्य किसी घटना विशेष को लेकर लिखा जाता है। खण्डकाव्य में इस प्रकार एक ही घटना की प्रधानता होती है और मानव जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण होता है। यह महाकाव्य का सीमित रूप होता है। महाकाव्य के जिन लक्षणों की ऊपर चर्चा की गई है, वे खण्डकाव्य में अत्यन्त सीमित रूप में स्वीकार किए जाते हैं। खण्डकाव्य में रस सम्बन्धी कोई अनिवार्य नियम नहीं है। उसमें किसी भी एक रस का परिपाक प्रधान रूप से ही दिखाया जा सकता है। खण्डकाव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे सर्गबद्ध ही हों। वे सर्गबद्ध हो भी सकते हैं और नहीं भी। छन्द योजना सम्बन्धी अनिवार्यता खण्डकाव्य में नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्दों में परिवर्तन हो ही जाए। खण्डकाव्य में एक प्रभावान्विति (Unity of impression) होती है। हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त कृत 'अनघ', 'जयद्रथ वध', 'नहुष', 'काबा और करबला', 'पंचवटी', 'तिलोत्तमा' राम नरेश त्रिपाठी कृत 'पथिक' 'मिलन' आदि महत्वपूर्ण खण्डकाव्य हैं।

काव्य और प्रकृति चित्रण

कविता में प्रकृतिचित्रण का अपना अलग ही महत्व होता है। प्रकृति की सजीवता में मानवीय तत्वों का अन्वेषण होता है और उसे मानव वाणी एवं भाव संवेदना प्राप्त होती है, जिसका उदात्तीकरण काव्य में होने से महत्व-पूर्ण अनिर्वचनीय स्वर्गीय आनन्द के साथ भावबोध एवं रस-बोध के नवीन स्तरों की उपलब्धियाँ होती हैं। काव्य के स्थायित्व के लिए यह उल्लेखनीय होता है। काव्य में प्रकृतिचित्रण के अनेक रूप होते हैं—आलम्बन रूप; उद्दीपन रूप; तथा अलंकार रूप। आलम्बन का अर्थ होता है आश्रय, अर्थात्

जिसके सहारे कोई भाव अभिव्यक्त होता है। कवि बिम्ब ग्रहण कर आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण करता है। आलम्बन रूप में भी प्रकृति वर्णन के कई रूप हो सकते हैं—वस्तु परिगणनात्मक रूप सामान्य वर्णनात्मक रूप, संश्लिष्ट वर्णनात्मक रूप। मानव वस्तुत: प्रकृति के भावों का आलम्बन है एवं प्रकृति मानवीय भावों का आलम्बन है। आलम्बनरूप में प्रकृतिचित्रण के दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

दूर नगर से नदी कूल पर पर्णकुटी हम छायेंगे।
चिड़ियों के स्वतन्त्र कलरव में गला मिलाकर गायेंगे॥
इन प्रस्तर की दीवारों के बंदीगृह से होकर मुक्त।
सरिता सा स्वतन्त्र जीवन का सुख लूटेंगे हम संयुक्त॥
जालीदार संगमरमर के वातायन से छन-छन कर।
जो मलयानिल मुश्किल से जाने पाता महलों के भीतर॥
उसी पवन संग वन उपवन में मैं अब विहरूँगी सानन्द।
दूषित वातावरण बीच यों मैं अब नहीं रहूँगी बन्द॥

—गुरुभक्त सिंह—नूरजहाँ, पृष्ठ ११२

× × × ×

फूलों की क्या बात, बांस की हरियाली पर मरता हूँ।
अरी दूब, तेरे रहते जगती का आदर करता हूँ।

—रामधारीसिंह दिनकर, रेणुका, पृष्ठ ६३

उद्दीपन भाव उसे कहते हैं जो आलंबन द्वारा उत्पन्न हृदय के भावों को उद्दीप्त करे, या जगाए। प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही स्वीकार किया है। उद्दीपन की दृष्टि से किए जाने वाले प्रकृति वर्णन में बिंब ग्रहण करने के प्रति कोई आग्रह नहीं अभिव्यक्त होता। इसमें केवल नाम गिन कर अर्थ ग्रहण करा दिया जाता है। 'ऐसे वर्णनों में भिन्न भिन्न रूपों और व्यापारों के संबंध और संश्लिष्ट चित्रण का ध्यान नहीं रखा जाता है। कुछ इनी गिनी वस्तुओं का उल्लेख मात्र कर दिया जाता है और उनके द्वारा नायक-नायिका के सुख-दु:ख को उद्दीपन करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।

—प्रसाद : कामायनी, पृष्ठ ८८

अलंकार रूप में प्रकृति चित्रण दो प्रकार से किया जाता है—एक मानवीकरण के रूप में और दूसरे अप्रस्तुत योजना के रूप में। छायावादी कवियों ने अधिकांश रूप में प्रकृति चित्रण मानवीकरण के रूप में ही किया है। इसके दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शशी फूलकर शशि का नूतन,
रश्मि वलय सितघन अवगुण्ठन,
मुक्त हल अविराम बिछा दे,
चितवन से अपनी
पुलकती आ वसंत रजनी
—महादेवी वर्मा

× × × ×

विजन वन वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी,
स्नेह स्वप्न अमल कोमल तन तरुनी जूही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में।
—निराला : जूही की कली

अप्रस्तुत योजना के रूप में प्रकृति चित्रण बहुतायत से हुआ है। इसमें प्रकृति वर्णन रूप विन्यास प्रस्तुत के रूप में होते हुए भी उपमा उत्प्रेक्षा प्रधान होती है। अप्रस्तुत रूप विधान भाव व्यंजक होता है। उसमें जटिल कल्पनाओं की न्यूनता होती है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

आज लोहित मधु प्रात
व्योम लतिका में छाया भार
खिल रही, नव पल्लव सी लाल
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
आज का ज्यों मृदु किसलय जाल;
आज उन्माद मधु प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस,प्राण !
—सुमित्रानन्दन पन्त : गुंजन

इसके अतिरिक्त कभी-कभी पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति वर्णन होता है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, काव्य में प्रकृति वर्णन का अनुपम महत्व होता है। प्रकृति वर्णन से कवि भाव बोध एवं रसबोध के नवीन आयाम कविता में प्रस्तुत कर देता है, जिससे काव्य का सौन्दर्य अत्यन्त अनूठे ढंग से मुखरित होता है। यद्यपि आज की तथा कथित नई कविता में जिसे मैं साहित्यिक वितण्डावाद और कोरी बकवास के अतिरिक्त कुछ और नहीं मानता, प्रकृति चित्रण का उतना महत्व नहीं है, जितना मिलना चाहिये। इसका कारण यह है कि इन कवियों ने रसात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता को महत्व दिया है, जो इन नए कवियों की विवेक शून्यता का परिचायक है।

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य निबन्ध का सर्वाधिक विकसित एवं नवीनतम रूप है। यह गद्य और पद्य के मध्य का रूप है, जिससे भावुकता, रसात्मकता, संगीतात्मकता एवं लय के साथ अपूर्व प्रवाह का समावेश होता है। 'जो गद्य कविता की तरह रमणीय सरस' अनुभूतिमूलक और ध्वनि प्रधान हो साथ ही साथ उसकी अभिव्यंजना प्रणाली अलंकृत एवं चमत्कारी हो, उसे गद्य-काव्य कहना चाहिये। इसमें भी इष्ट कथन के लिए कविता की भाँति न्यूनातिन्यून अथवा केवल आवश्यक पदावली का प्रयोग किया जाना चाहिए। अग्नि-पुराण के "संक्षेपात वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" के अनुसार संक्षिप्त काव्य विधान का विचार इसमें भी रहना चाहिए। कविता के समस्त गुण-धर्मों के अनुरूप संगठित होने के कारण गद्य काव्य में भी प्रतीक भावना अथवा आध्यात्मिक संकेत के लिए आग्रह दिखाई पड़ता है। इसमें भी भावपात्रता का वही रूप मिलता है, जिसका आधुनिक प्रगीतात्मक रचनाओं में आधिक्य रहता है। यदि मूल प्रकृति का विचार किया जाय तो इसकी संगति शुद्ध प्रगीतात्मक कविता के साथ अच्छी बैठती है क्योंकि इसके साध्य और साधन उसी कोटि के होते हैं। कविता की भाँति इसमें भी कारण रूप से प्रतिभा ही काम करती है। "श्रीमती महादेवी वर्मा के अनुसार पद्य का भाव उसके संगीत की ओट में छिप जाय, परन्तु गद्य के पास उसे छिपाने के साधन कम हैं। रजनीगन्धा की क्षुद्र, छिपी हुई, चुपचाप छिपी हुई कलियों के समान एकाएक खिलकर जब हमारे नित्य परिचय के कारण शब्द हृदय को भाव सौरभ से सराबोर कर देते हैं तब तब हम चौंक उठते हैं। इसी में गद्य-काव्य

का सौन्दर्य निहित है। इसके अतिरिक्त गद्य की भाषा बन्धनहीनता में बद्ध चित्रमय परिचित और स्वाभाविक होने पर भी हृदय को छूने में असमर्थ हो सकती है। कारण हम कवित्वमय गद्य को अपने उस प्रियमित्र के समान पढ़ना चाहते हैं, जिसकी भाषा, बोलने के ढंग विशेष और विचारों से हम पहले से ही परिचित होंगे। उसका अध्ययन हमें इष्ट नहीं होता। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इस प्रकार के गद्य में भावावेग के कारण एक प्रकार की लय युक्त झंकार होती है जो सहृदय पाठक के चित्त को भाव ग्रहण के लिए अनुकूल बनाती है। इन परिभाषाओं के आधार पर गद्य काव्य में भावनात्मकता, कल्पनाशीलता, रमणीयता, सरसता, अनुभूतिप्रधानता, प्रतीकात्मकता, रूपात्मकता, छन्दयुक्तता, रसात्मकता तथा संक्षिप्तता आदि विशेषताएं होती हैं। अन्त में मैं अपना मत भी दे देना उचित समझता हूँ। मेरे विचार से गद्य काव्य निबन्ध का सर्वाधिक विकसित एवं नवीनतम रूप है, जिसमें भावबोध के साथ रसबोध के नवीन स्तर प्राप्त होते हैं। गद्य-काव्य बन्धनमुक्त सरस साहित्यिक विधा है, जिसकी भाषा भावुकता से परिपूर्ण चित्रात्मक एवं ध्वनिमूलक होती है। गद्यकाव्य का प्रारंभ भारतेन्दु के नाटकों के समर्पण से ही माना जाना चाहिए। वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'हृदय की हिलोर', वियोगी हरि कृत 'तरंगिणी', चतुरसेन शास्त्री कृत 'अन्तस्थल', राधिका रमण प्रसाद सिंह कृत 'नव जीवन' तथा माखन लाल चतुर्वेदी कृत 'साहित्य देवता' गद्य काव्य की अन्यतम रचनाएं हैं।

उपन्यास

साहित्य में उपन्यास का स्थान

आधुनिक काल में सभी साहित्यिक विधाओं में उपन्यासों ने सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। साहित्य में उपन्यास का स्थान अनेक दृष्टियों से अत्यन्त उल्लेखनीय है। उपन्यास ही वह साहित्यिक माध्यम है, जिसके द्वारा कोई लेखक जीवन्त सामाजिक समस्याओं की ओर जन-मानस को आकर्षित कर उनके समाधान की कसौटी उपस्थित कर सकता है। उपन्यास में ही सम्पूर्ण मानव-जीवन अपनी पूर्णता के साथ चित्रित किया जा सकता है और एक व्यापक परिवेश पर उसका प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सकता है। कहा जा सकता है कि यही बात तो महाकाव्यों के सम्बन्ध में भी सत्य है। पर

देखना यह चाहिए कि महाकाव्यों में सीमाओं की जटिलता कितनी अधिक है। पीछे हमने महाकाव्यों के स्वरूप पर विचार करते समय यह देखा था कि उसमें कथानक इतिहास समर्थित हो, सर्गबद्ध रचना हो, नायक विशिष्ट प्रकार का हो आदि। इन सभी सीमाओं के कारण महाकाव्य में एक विशिष्ट प्रकार के लोगों का एवं एक विशिष्ट प्रकार के जीवन का ही चित्रण सम्भव हो पाता था। पर उपन्यास में कोई भी सीमा नहीं है। उपन्यासकार के लिए किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं है। वह चाहे तो ऐतिहासिक कथावस्तु ले या न ले, नायक रखे या न रखे। उपन्यास किसी भी शैली को अपनाने के लिए स्वतन्त्र है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता के कारण उपन्यासों में किसी भी वर्ग, किसी भी समाज, किसी भी प्रकार के पात्रों एवं किसी भी प्रकार की समस्या का चित्रण हो सकता है। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि महाकाव्यों की लोकप्रियता की अपेक्षा उपन्यासों की लोकप्रियता अधिक है। अधिक संख्या में लोग आज उपन्यासों के पठनपाठन में दत्त चित्त हैं। इसी कारण से जिस संख्या में आज उपन्यास लिखे जा रहे हैं और उनका प्रकाशन जिस मात्रा में हो रहा है, उतनी मात्रा में महाकाव्य नहीं। इसलिए इतना तो निर्विवाद है कि जीवन और समाज की यथार्थ एवं ज्वलन्त समस्याओं को जिस सशक्तता एवं स्पष्टता के साथ उपन्यासों के माध्यम से अधिक से अधिक लोगों के पास पहुंचाया जा सकता है, उतने महाकाव्यों के माध्यम से नहीं। यही कारण है कि आज उपन्यासों का स्थान साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। उपन्यास वह साहित्यिक माध्यम है, जिसमें व्यापक परिवेश में मानव जीवन अपनी सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति पाता है। यों उपन्यास की बहुत सी अन्य परिभाषाएं दी गई, है पर मेरे विचार से इस परिभाषा से उपन्यासों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, और वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उपन्यास और कहानी

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपन्यास और कहानी में क्या सम्बन्ध है? वास्तव में उपन्यास में भी कोई-न-कोई कथा होती है, और कहानी में भी किसी कथा को ही आधार बनाया जाता है। अतः इसी कथा साम्य के कारण लोग कहानी और उपन्यास को एक ही समझ बैठते हैं, और यदि कोई अन्तर समझते भी हैं तो बस इतना ही कि उपन्यास का

आकार विस्तृत होता है, और कहानी का आकार सीमित। इसके आगे वे और कुछ स्वीकार करने को तत्पर ही नहीं होते। यह बात तो खैर है ही, पर इसके अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से कारण हैं जिसके कारण कहानी और उपन्यास में बड़ा अन्तर हो जाता है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि कहानी और उपन्यास में अन्तर क्या है ? आगे कहानी वाले प्रकरण में भी इस समस्या पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है पर यहाँ अधिक स्पष्टता के लिए इतना समझ लेना पर्याप्त है कि उपन्यास में मानव जीवन के बहुविधीय पक्षों का चित्रण अपनी पूर्णता के साथ होता है। पर कहानी में मानव जीवन के किसी एक पक्ष का, एक घटना का या किसी एक संवेदना का चित्रण होता है। उपन्यास में लेखक को चरित्र चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश होता है और वह अनेक प्रमुख पात्र लेकर उनका चरित्र-चित्रण सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में कर अपने उद्देश्य की पूर्णता सिद्ध करता है पर कहानी में कहानीकार को इतनी स्वच्छन्दता नहीं रहती। उसे कम से कम समय में पात्रों का चरित्र चित्रण स्पष्ट करना पड़ता है, इसलिए जहाँ उपन्यासों में पात्रों की बहुलता रहती है, वहाँ कहानी में पात्रों की न्यूनता रही है और कहानीकार को एक या दो पात्रों से ही अपना काम चला लेना पड़ता है। कहानी में इसीलिए एक-एक शब्द का अत्यधिक महत्व हो जाता है। वे सभी विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कहानी कभी भी उपन्यासों के स्थानापन्न रूप में सामने नहीं आ सकती। उपन्यास में और कहानी के शिल्प विधान में भी अन्तर है। उपन्यास में एक मुख्य कथा होती है। पर उसके साथ अनेक अवांतर कथाएं भी होती हैं। पर कहानी में चूंकि सीमित परिवेश होता है, इसलिए मुख्य कथा या घटना को ही प्रधानता मिलती है। अवांतर कथा या घटना के चित्रण के लिए कहानी में अवकाश नहीं होता। कहानी का शिल्प और उसके प्रस्तुतीकरण का ढंग इसीलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। उपन्यास यदि एक महासागर है तो कहानी एक छोटी नदी है। उपन्यास यदि भाव तरंगों का समूह है तो कहानी उस भाव-तरंगों के समूह की मात्र एक तरंग है। उपन्यास यदि स्वतंत्र क्षेत्र में व्यापक कलात्मक अभिव्यक्ति है, तो कहानी सीमित क्षेत्र में संकुचित कलात्मक अभिव्यक्ति है। पर इसका यह अभिप्राय यह नहीं है कि कहानी का महत्व उपन्यासों की तुलना में किसी प्रकार कम होता है। कुशल कहानीकार उन्हीं मानवीय संवेदनाओं या घटनाओं को चुनते हैं

जिनसे वे व्यापक मानवीय भाव एवं अनुभूतियों का चित्रण कर सकें। इस प्रकार आकार सीमित एवं अपूर्ण सी प्रतीत होते हुए भी कहानी पूर्ण होती है और उपन्यासों के समान ही महत्त्व रखती है।

उपन्यास की कोटियां

स्वरूप एवं विषय वस्तु की दृष्टि से उपन्यासों की अनेक कोटियां बनाई जा सकती हैं। प्रमुख रूप से उपन्यासों की निम्नलिखित कोटियां होती हैं—

१—घटना प्रधान उपन्यास
२—वर्णनात्मक उपन्यास
३—सामाजिक उपन्यास
४—राजनीतिक उपन्यास
५—ऐतिहासिक उपन्यास
६—मनोविश्लेषणवादी उपन्यास
७—आंचलिक उपन्यास
८—चरित्रप्रधान उपन्यास

घटना प्रधान उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता होती है। इनमें उपन्यासकार का ध्यान प्रमुखतः कौतूहलता एवं उत्सुकता की चरम अभिव्यक्ति की ओर ही रहता है। वह पाठकों के मन में इस प्रकार की भावना भरना चाहता है कि 'अच्छा तो अब क्या हुआ ?' 'अरे !' 'वाह !' आदि भावनाओं को वह सहसा प्रगट करे। यह बात प्रमुख रूप से ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे उपन्यासों में लेखक उपन्यास शिल्प की ओर अधिक ध्यान नहीं रखता जितना कौतूहलता सृजन की भावना की ओर। फलस्वरूप इस प्रकार के उपन्यास साहित्यिक मूल्य एवं सौन्दर्य की दृष्टि से भी वंचित रहते हैं। इन उपन्यासों में भय, विस्मय, आश्चर्य, रहस्यमय घटनाओं की परिकल्पना आदि विशेषताओं के कारण सस्ती प्रवृत्ति के पाठकों की तृष्णा शान्त होती है। ऐसे उपन्यास अभी तक फुटपाथों के साहित्य में ही गिने जाते रहे हैं। गोपालराम गहमरी, किशोरी लाल गोस्वामी के अधिकांश उपन्यास घटना प्रधान ही हैं। वर्णनात्मक उपन्यासों में वर्णन की प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में इनमें न तो चरित्र की महत्ता रहती है, न घटनाओं की। इनमें कथा तत्व की अत्यधिक महत्ता रहती है। सामाजिक उपन्यासों में समाज की किसी समस्या को लेकर कथानक का ढांचा निर्मित किया जाता है।

समाज की गतिशीलता उसकी समस्याओं के कारण भी होती है। प्रत्येक युग एवं समाज की अपनी समस्याएं होती हैं। व्यक्ति जो जीवन जीता है उसकी भी समस्याएं इन्हीं समस्याओं की मूल पृष्ठ भूमि होती हैं। उपन्यास, सच पूछा जाय, तो मानव जीवन की इन्हीं समस्याओं का लेखा जोखा उपस्थित करता है। इसीलिए उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं एवं तत्वों का आ जाना स्वाभाविक ही है। सामाजिक समस्याओं के चित्रण में लेखक प्राय: यथार्थवादी शैली का ही आश्रय ग्रहण करते हैं। हिन्दी में सामाजिक उपन्यास अधिक संख्या में लिखे गए हैं। प्रेमचन्द कृत 'रंग भूमि', 'गबन' और 'सेवा सदन', प्रताप नारायण श्रीवास्तव कृत 'विदा', 'विकास' तथा 'विजय', गोविंद वल्लभ पन्त, सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी, विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक आदि के अनेक उपन्यास सामाजिक उपन्यासों की श्रेणी में ही आते हैं। राजनीतिक उपन्यासों में किसी राजनीतिक समस्या को कथानक का आधार बनाया जाता है, और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण किया जात है। यशपाल का 'झूठा सच' प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक कथा या ऐतिहासिक कल्पना को कथावस्तु का आधार बनाया जाता है। पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यास न तो इतिहास होते हैं, और न इतिहास ऐतिहासिक उपन्यास ही होते हैं। उपन्यास वस्तुत: इतिहास का अन्धानुकरण नहीं करता, यदि वह अपनी औपन्यासिकता का मार्ग छोड़ दे तो न वह उपन्यास ही रह जाएगा और न इतिहास ही। वहाँ कल्पना का कुछ न कुछ आश्रय ग्रहण करना ही पड़ता है। किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'तारा', वृन्दावन लाल वर्मा कृत गढ़कुण्डार, 'मृगनयनी', 'झाँसी की रानी' चतुरसेन शास्त्री कृत 'सोना और खून, 'वैशाली की नगर बधू' रांगेय राघव कृत 'मुर्दों का टीला', राहुल सांकृत्यायन कृत 'जय यौधेय' आदि ऐतिहासिक उपन्यास हैं। ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित भगवती चरण वर्मा कृत' ,चित्रलेखा' और यशपाल कृत 'दिव्या' प्रमुख हैं। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण, पात्रों के मानसिक भाव-व्यापारों, अन्त र्द्वन्द्वों एवं चारित्रिक आरोह-अवरोहों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसमें स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता अधिक होती है और 'कथा तत्व की अपेक्षा पात्रों के मनोविश्लेषण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जैनेन्द्र कुमार कृत 'त्याग पत्र', 'विवर्त', 'व्यतीत' इलाचन्द जोशी कृत 'लज्जा', 'सन्यासी', 'प्रेत और

छाया,' अज्ञेय कृत 'शेखर 'एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' तथा इन पंक्तियों के लेखक कृत 'एक और अजनबी' की गणना मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में की जाती है। आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल विशेष का चित्रण कर वहाँ की लोक संस्कृति, भाषा, जीवन आदि का यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया जाता है। यों तो आंचालिक तत्व प्रेमचन्द और वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में भी प्राप्त होते हैं पर शुद्ध आंचालिक उपन्यास फणीश्वर नाथ रेणु, नागार्जुन तथा राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने ही लिखे हैं। चरित्र प्रधान उपन्यासों में किसी चरित्र को लेकर उसे कथा का आधार बनाया जाता है और एक विशेष पात्र की चारित्रिक विशेषताओं का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न होता है। प्रेमचन्द्र कृत 'निर्मला' जैनेन्द्र कृत 'कल्याणी' और 'सुखदा' तथा राजेन्द्र यादव कृत 'अनदेखे अनजान कुल' चरित्र प्रधान उपन्यास हैं।

उपन्यास के रचना तत्व

उपन्यास में प्रमुख रूप से मानव जीवन का ही चित्रण होता है और उसके सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम बना लेना अत्यन्त कठिन होगा। वस्तुत: भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि मानव मन की अभिव्यक्ति सरलता से हो जाती है और वह किसी नियम की अपेक्षा नहीं करती, पर तब भी समीक्षा शास्त्रियों ने उपन्यास लिखने के कुछ नियम बना लिए हैं, जो कमोवेश सभी उपन्यासों में आ जाते हैं। साधारणतया उपन्यास के रचना तत्वों में कथानक; कथोपकथन; चरित्र-चित्रण; देशकाल अथवा वातावरण; विचार एवं उद्देश्य; तथा भाषाशैली की गणना की जाती है। यह आवश्यक नहीं कि जबतक इन तत्त्वों का पूर्ण समावेश किसी रचना में न किया जाय, तब तक उसे उपन्यास की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। आज केवल कुछ चरित्रों को लेकर ही उपन्यासों की रचना की जाती है और कथानक के नाम पर उनमें कुछ भी नहीं रहता, उनकी पूर्ण उपेक्षा ही रहती है। जैनेन्द्रकुमार के अधिकांश उपन्यास इसी प्रकार के हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपन्यास लिखने में कोई नियम विशेष बनाकर लेखक को उन नियमों की परिधि में बांधा नहीं जा सकता, फिर भी उपन्यासों में अधिकांश ऊपर गिनाए गए तत्वों का समावेश हो ही जाता है।

कथानक उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व होता है।[1] प्रत्येक

1 "We shall all agree that the fundamental aspect of the novel is its story telling aspect....the novel tells a story. That is the fundamental aspect, without

उपन्यास में किसी न किसी कथा को कहने का प्रयत्न होता है भले ही उस पर अधिक बल न दिया जाय। कथानक अपनी सीमा में जीवन की समग्रता का अंकन करता है, तथा एक विस्तृत पृष्ठ भूमि के छोरों को बाँधने का प्रयत्न करता है। कथानक में घटनाओं को इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि उनमें कहीं भी रिक्तता का आभास नहीं होता। कथानक में घटनाओं की संयोजना इस कौशल से होती है कि प्रारम्भ से अन्त तक घटनाएँ बराबर एक दूसरे से निकली हुई तथा एक सूत्र में बंधी हुई दृष्टिगोचर होती हैं, जिनसे उनमें एकता का भाव विद्यमान रहता है, और अनुभूति की तीव्रता बनी रहती है। सफल कथानकों में घटनाओं का संगुफन इस प्रकार रहता है कि पाठक अपनी उत्सुकता इस प्रकार प्रकट करता जाता है, 'हाँ तो फिर क्या हुआ ?' 'अरे !' आदि। ये घटनाएँ बड़ी आकर्षक होती हैं।[1] कथानक का क्षेत्र कोई भी हो सकता है, और उसमें कल्पना का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हो सकता है, पर इतना तो निश्चित है 'कि कल्पना के अतिरंजित प्रयोग से कथानक की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में कल्पना की ऐसी बेसिर पैर की उड़ानें भरी जाती थीं, कि उन घटनाओं की सत्यता पर विश्वास करना कठिन ही नहीं, असम्भव सा हो जाता था। कथानक की सहजता और स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक होती है, इससे स्पष्ट है कि उपन्यास की रचना प्रक्रिया में कथानक का महत्वपूर्ण भाग होता है।[2]

अनेक आलोचकों ने कथावस्तु को अनावश्यक बताते हुए उसकी अवहेलना इस आधार पर की है, कि जब मानव जीवन ही अस्त-व्यस्त है, फिर उस

---

which it could not exist. That is the highest factor common to all novels, ...It runs like a backbone or may I say a tapeworm, for its begining and end are arbitary—

—ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन, पृष्ठ ४४४५

1 "The most simple form of prose fiction is the story which records a succession of events, generally marvellous—"

—एडविन म्योर: द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (लन्दन १९४६), पृष्ठ १७

२ हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८) न्यूयार्क, पृष्ठ १८

मानव जीवन की प्रतिकृति उपन्यास की कथावस्तु कैसे सुसंगठित हो सकती है, पर यह उचित एवं तर्कसंगत नहीं है। यह मानव जीवन कभी एकांतिकता और वीराने का अनुभव करने लगता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह जीवन रूपी मरुद्यान कभी-कभी बसंत की श्री सुषमा का अवलोकन न कर सकेगा। ऐसा सोच कर दम घुटने लगता है, मानों हम कहीं शून्य में खो गए हैं, हमारी चेतना कहीं लुप्त हो गई है। पर इसका यह तात्पर्य तो नहीं है कि जीवन खंडित हो गया है और वह जीने योग्य नहीं है, इसलिए उसका गला घोंट दिया जाय। इस अन्धे और स्वार्थी युग ने हमें जो दर्द दिये हैं, जो पीड़ाएं हमारे जीवन में भर दी हैं उन्हें हमें आत्मविश्वास के साथ तो सहन करना ही होगा। भीरु अथवा कायर बन कर कभी नया जीवन नहीं प्राप्त किया जा सकता। संसार में जीवित रहना है, तो जिन्दों की तरह क्यों न जिया जाय, मुर्दों की भांति कोई क्यों जिऍं? क्या इन निर्धनों के दामन पर रोटी के दो टुकड़ों के लिए जो दाग लगे हुए हैं, क्षुधा, तृष्णा, विवशता और लाचारियों की पूर्ति के प्रयास में उनकी आत्माओं में जो झूठ बसा हुआ है, उसकी ओर संकेत करने का और उन्हें जीवन में ऊपर उठने की प्रेरणा देने का क्या कोई कर्तव्य आज के कथाकारों का नहीं रह गया है? केवल जीवन के खंडित होने के बहाने उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यासों में कथा वस्तु का होना अनिवार्य नहीं है। पर इसके बावजूद भी इधर कुछ उपन्यासकारों ने कथानक की उपेक्षा करनी प्रारंभ की है। वे कथानक की अपेक्षा चरित्रों को अधिक महत्व प्रदान करते हैं और इने-गिने पात्रों को लेकर ही उन्हीं का विश्लेषण मात्र कर उन चरित्रों की आन्तरिक विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। जैनेन्द्र ऐसे उपन्यासकरों में प्रमुख हैं। उनका तो स्वयं कहना ही है, कि कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है। पर तो भी ऐसे उपन्यासकारों की रचनाओं में कथानक होता है, घटनाओं की संयोजना होती है, भले ही वह उन पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने के लिए ही क्यों न संगुंफित की जाय। 'परख', 'सुनीता, 'त्यागपत्र', आदि कृतियों में कथानक की प्यास उतनी ही बुझती है, जितनी 'गोदान', टेढ़े मेढ़े रास्ते' अथवा 'झांसी की रानी' आदि उपन्यासों में। हां यह अवश्य है कि प्रथम कोटि के उपन्यासों में संकेतों का अधिक आश्रय ग्रहण किया गया है और उतना सुगसंठित कथानक नहीं प्राप्त होता है, जितना द्वितीय कोटि

के उपन्यासों में, पर कथानक की पूर्ण उपेक्षा इनमें भी नहीं की गई है। सच तो यह है कि बिना किसी कथानक के किसी उपन्यास की सफल रचना सम्भव ही हो नहीं सकती।

उपन्यासकार मानव जीवन की प्रमुख संवेदनशील घटनाओं को ही चुनकर अपने कथावस्तु की माला पिरोता है, और जिसे वह उन्हीं परिस्थितियों में रहने वाले प्रत्येक मानव के गले में पहनाना चाहता है। उसे अपने इस उद्देश्य में अधिक से अधिक सफलता तभी प्राप्त हो सकेगी, जब वह जीवन के अत्यधिक निकट होगा। कलाकार का जीवन के प्रति सच्चाई और ईमानदारी ही कथावस्तु का प्राण है। यह सच्चाई जितनी ही तीव्र होगी, कथावस्तु भी उतनी हृदयग्राहिणी और मर्मस्पर्शी होगी। 'यही कारण है कि साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान बनते हैं, जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अन्यथा वे बांस पर लटकाए गए चीथड़ों की तरह पक्षुओं के लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण तथा मनुष्य के लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं। क्रान्ति के नाम पर आने वाले मूल्य मर्यादा से रहित बहुत से आवेशपूर्ण साहित्य का यही भाग्य रहा है।' अतः स्पष्ट है कि कथानक में वास्तविकता एवं यथार्थता के प्रति जितना ही अधिक आग्रह होगा, उसमें पाठकों के ऊपर प्रभाव डालने की उतनी ही शक्ति भी होगी। मानवीय जीवन की अनुभूतियों एवं संवेदनशीलता को अपने कथानक के परिवेश में ईमानदारी के आग्रह से संयोजित करने वाला कथाकार ही उच्चकोटि की कृतियों का निर्माण कर पाता है और उसकी कृतियों का पाठकों के ऊपर अमिट एवं स्थायी प्रभाव होता है।

कथोपकथन उपन्यास का दूसरा रचना तत्व है। इसका उपन्यासों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। कुशल उपन्यासकार कथोपकथनों के माध्यम से अपने चरित्रों को स्पष्ट करता चलता है और समाज की दुरव्यवस्था पर ऐसे मर्मभेदी तीखे व्यंग कसता चलता है कि देखने वाले बस देखते ही रह जाते हैं। कथोपकथन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक। कथोपकथन जितने छोटे, व्यंगपूर्ण और सार्थक होते हैं, उपन्यास की सफलता उतनी ही बढ़ जाती है। लम्बे और निरर्थक कथोपकथन उपन्यास के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। प्रायः उपन्यासों में अपने मत के प्रचार के लिए अथवा अपने सिद्धान्तों को लोक प्रिय बनाने के लिए दो-दो, तीन-तीन पृष्ठों से भी अधिक लम्बे कथानक ठूंसे जाते हैं और पात्र आपस में बात-

चीत करते-करते अचानक भाषण देने लगते हैं। इससे उपन्यास की प्रभावाभिव्यंजकता समाप्त हो जाती है। वास्तव में उपन्यास लेखन अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है और उपन्यासों को विशेष प्रकार की संवेदना ही अधिक सफलता प्रदान करती है[1] न कि ये लम्बे-लम्बे कथोप-कथन, जो उपन्यास को नीरस बना डालते हैं। प्रेमचन्द अथवा कुछ मार्क्सवादी उपन्यासकारों में यह दोष प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। कथोपकथन की एक अन्य विशेषता होती है, कि वे चरित्रों को स्वयं तो स्पष्ट करते चलते ही हैं, साथ ही कथानक को भी गतिशीलता प्रदान करते हैं। कथानक के बीच लेखक जितना ही कम आता है, उतना ही उपन्यास श्रेष्ठ होता है। जैनेन्द्र के के अधिकांश उपन्यासों में पैने कथोपकथनों के माध्यम से ही कथा का विकास किया जाता है। वे महाकवि बिहारी के दोहों की भाँति आकार में तो लघु हैं, पर उनकी प्रतिक्रिया अत्यन्त तीव्र होती है। 'त्यागपत्र' में मृणाल द्वारा कहे गये कुछ कथोपकथन इतने चुटीले हैं, कि वे मस्तिष्क को चीर कर रख देते हैं और इतनी करुणा का संचार करते हैं कि बरबस अश्रु उमड़ पड़ते हैं। अतः छोटे, अर्थपूर्ण और चुटीले कथोपकथनों से उपन्यासों का प्रभाव निश्चित रूप से बढ़ जाता है।

उपन्यासों का तीसरा तत्व चरित्र-चित्रण है। प्रायः उत्कृष्ट कोटि के उपन्यासकार ऐसे ही चरित्रों की सृष्टि करते हैं जिनके माध्यम से वे समाज के सम्मुख कोई अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर सकें। स्वाभाविकता चरित्र-चित्रण का अनिवार्य अंग होता है। मानव न देवता ही होता है, न असुर ही। वह

---

1 "A mirror does not develop because an historical pageant passese in front of it. It only develops when it gets a fresh coat of quicksilver in other words, when it acquires new sensitiveness ; and the novels success lies in its own sensitiveness, not in the subject matter. Empires fall, votes are accorded, but to those people writing in the circular room it is the feel of the pen, between their fingers that matters most."

—ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन पृष्ठ ३४

बस मानव ही होता है। मानव जीवन की जटिलताएँ और विषमताएँ ही तो मानव को मानव बना रहने देती हैं अन्यथा वह या तो देव तुल्य ही हो जायेगा या भयानक हिंस्र पशु। सुप्रवृत्तियाँ और कुप्रवृत्तियाँ सभी में सामान्य रूप से होती हैं, हाँ इनकी न्यूनता एवं अधिकता ही चरित्रों में विविधता का निर्माण करती हैं। मानव प्रायः अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं से संघर्ष करता हुआ संसार रूपी अथाह सागर के प्रवाह के थपेड़े खाता हुआ उसी के मध्य अपनी जीवन नौका को अपने बाहुबल और आस्था के आत्मबल के सहारे गतिशील करता है, और अन्त में अपने अन्तरमन में छिपी हुई सद्प्रवृत्तियों का आश्रय ग्रहण करता हुआ इन पर विजय प्राप्त करता है। यह आवश्यक नहीं कि अन्त में वह विजयी ही हो। वह जीवन संघर्ष में पराजित भी हो सकता है। और ऐसा प्रायः होता भी है। 'गोदान' का होरी जीवन भर अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करता रहा, किन्तु विजयश्री का सेहरा कभी भी उसे प्राप्त न हो सका, और अन्त में पराजित होकर उसने अपने दम तोड़ दिये। इन सब परिस्थितियों का स्वाभाविक एवं यथार्थ चित्रण ही पात्रों को सशक्तता प्रदान करता है और वे पाठकों के ऊपर स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ रहते हैं। पर दुर्भाग्य से अधिकांश उपन्यासकार अपने पात्रों को अपने हाथों की कठपुतलियाँ बना कर छोड़ते हैं जिससे वे पूर्णतया अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं और हमारे जीवन से दूर हट जाते हैं तथा हमारे अपने बीच के जाने पहचाने से प्रतीत नहीं होते, जिसके कारण वे हमारी सहानुभूति के अधिकारी भी नहीं हो पाते। शरत् बाबू का विप्रदास और प्रेमचन्द के सूरदास तथा होरी के चरित्र चित्रण में इतनी स्वाभाविकता है कि वे हमारी अपनी भारतीय भूमि के प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत अज्ञेय का शेखर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि धरती और आकाश के बीच कल्पनाओं के धरातल पर उत्पन्न हुआ है। उसे किसी भी देश की धरती से सम्बन्धित करके देखा जा सकता है। कदाचित अज्ञेय ने शेखर की रचना की प्रेरणा प्रसिद्ध पाश्चात्य उपन्यासकार रोम्या रोलां के ज्यां क्रिस्तफ से ली है, पर ज्यां क्रिस्तफ अपनी धरती का बना दृष्टिगोचर होता है, और इसका आभास हमें पग-पग पर मिलता चलता है। फ्रांस में रहते हुए भी उसके शरीर में जर्मनी की गौरवशाली परम्परा का प्रवाहित होता हुआ उष्ण रक्त छिपा नहीं रह पाता। अतः यह तो निश्चित सा ही है कि उपन्यासकार को अपने पात्रों के साथ खिलवाड़ करने का कोई अधिकार नहीं है। चरित्र जितने ही जाने पहचाने और स्वाभाविक होते हैं, उप-

न्यासों की सफलता भी उतनी ही असन्दिग्ध होती है।[1] यह पूर्णरूप से निविवाद है। चरित्र-चित्रण की प्रायः दो पद्धति होती हैं—विश्लेषणात्मक और नाटकीय। विश्लेषणात्मक पद्धति में उपन्यासकार स्वयं कथानक के बीच प्रकट होकर यह बताता है कि उसके पात्र ऐसे हैं, उनकी ये विशेषताएँ हैं, ये दुर्बलताएँ हैं, तथा ये अच्छे हैं, या बुरे हैं। पर नाटकीय ढंग के अन्तर्गत उपन्यासकार अपने पात्रों को स्वतन्त्र छोड़ देता है, तथा चरित्र स्वयं अपने कृत्यों, कथोपकथन तथा दूसरों की टिप्पणियों से प्रकाशित होते हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार थैकरे ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा है—कि मैं अपने पात्रों को नियंत्रित नहीं करता। मैं स्वयं उनके हाथों में रहता हूँ, और वे अपनी इच्छानुसार मुझे चाहे जहाँ ले जा सकते हैं।[2]

पात्र दो प्रकार के होते हैं : प्रधान पात्र तथा गौण पात्र। प्रधान पात्रों के अन्तर्गत नायक, नायिका, सहनायक एवं सहनायिका को रखा जा सकता है। इनका कथानक से मुख्यरूप से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, और कथानक के सारे सूत्र उन्हीं को प्राप्त होते हैं। फलागम की स्थिति नायक एवं नायिका को ही प्राप्त होती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक उपन्यास में नायक और नायिका हों ही। 'वैनिटी फेयर' में कोई नायक नहीं है। इसी प्रकार 'गिरती दीवारें', 'संगम', 'कुंडलीचक्र', 'शेखर : एक जीवनी' में कोई नायिका नहीं है। गौण पात्र कथानक को गति प्रदान करने और प्रमुख पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए ही रखे जाते हैं। विशेष वातावरण की सृष्टि की दृष्टि से गौण पात्रों से बड़ी सहायता प्राप्त होती है। चरित्र विकास की दृष्टि से भी पात्र दो प्रकार के होते हैं : एक तो वे, जो बिल्कुल

1 "A novel is a work of art, with its own laws, which are not those of daily life, and that a character in a novel is real when it lives in accordance with such laws."

—ई० एम० फास्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नावेल, (जनवरी १९४४), लन्दन, पृष्ठ ८७

2 "I do not control my characters. I am in their hands and they take me where they please."

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, पृ० १४५

स्थिर रहते हैं। उनमें परिवर्तन किंचित मात्र भी नहीं होता। दुख-सुख सभी परिस्थितियों में वे एक ही प्रकार का आचरण करते हैं। ऐसे पात्र इस प्रकार का आभास देते हैं, जैसे वे आरम्भ से ही अपने आप में पूर्ण हों, हाँ उनके सम्बन्ध में पाठकों की धारणा में अवश्य धीरे-धीरे परिवर्तन होता है।[1] दूसरे वे पात्र होते हैं, जिनमें स्थिरता नहीं होती है, अपितु कथानक के विकास के साथ ही उनके चरित्र का भी विकास होता जाता है। पात्रों का संयोजन कथानक की आवश्यकतानुसार ही किया जाता है। घटना प्रधान उपन्यासों में पात्र इस प्रकार के होते हैं कि वे कथानक के साथ पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर सकें, पर चरित्र प्रधान उपन्यासों में स्वयं कथानक इस प्रकार चुना जाता है, जिससे चरित्रों की अत्यन्त स्पष्ट एवं सशक्त अभिव्यक्ति हो सके। ऐतिहासिक उपन्यासों में पात्रों का निर्वाचन भिन्न प्रकार का तथा युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यासों में पात्र भिन्न प्रकार के होंगे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चरित्र-चित्रण का उपन्यास के शिल्प में महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में उपन्यास कला का नया एवं अन्यतम स्वरूप है, जो बुर्जुआ साहित्य की महानतम सृष्टि रूप है।[2] वह मानवीय प्रक्रियाओं से अधिक सम्बन्धित करके देखी जाती है, अतः चरित्र चित्रण का उपन्यासों में मुख्य स्थान हो जाता है। उपन्यासकार चरित्रों के माध्यम से ही समाज के विभिन्न व्यक्तियों को प्रस्तुत कर मानवीय जीवन का अंकन प्रस्तुत करता है। पाठक अपनी ही छाया उपन्यास के चरित्रों में लक्षित कर उनसे तादात्म्य स्थापित करता है, जिससे वह अपनी दुर्बलताओं से परिचित होकर उन चरित्रों के माध्यम से स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन में कुछ ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उपन्यासकार जिन चरित्रों की सृष्टि करता है, उन पर से स्वयं उसका स्वत्वाधिकार हट जाता है और वे चरित्र अपने आप में स्वतन्त्र होते

1 ······Their (of flat characters) weakness, their varities, their foilles, they possess from the begining and never lose to the end; and what actually does change is not these, but our knowledge of them."

—एडविन म्योर : स्ट्रक्चर ऑव द नावेल (१६४६) लन्दन, पृष्ठ २४-२५

२ रैल्फ फॉक्स : द नॉवेल ऐन्ड द पीपुल, पृष्ठ ८०

है।[1] उपन्यास लेखक अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें जबर्दस्ती तोड़ता मरोड़ता नहीं, अथवा अपनी इच्छानुकूल उन्हें गति नहीं देता या वह उन्हें कठपुतली बना उपन्यास की स्वाभाविकता समाप्त नहीं कर देता। सत्य तो यह है कि उपन्यासकार कथानक की कल्पना कर उसमें अपने पात्रों को छोड़ देता है और उनके स्वतन्त्र चारित्रिक विकास का अवसर प्रदान करता है, तभी उपन्यास में स्वाभाविकता आ पाती है।

उपन्यासों का चौथा तत्व देशकाल अथवा वातावरण का होता है। उपन्यास की स्वाभाविकता की दिशा में देशकाल अथवा वातावरण की रक्षा का मुख्य स्थान होता है। उपन्यास में वर्णित घटनाओं की सत्यता का विश्वास दिलाने के लिए उपन्यासकार अपने कथानक के तत्कालीन युग का पूर्ण सजीव वातावरण इस कुशलता के साथ उपस्थित करता है, कि पाठकों के मस्तिष्क में उनकी सत्यता असन्दिग्ध हो जाती है। भगवतीचरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' को पढ़कर प्राय: पाठक उसके ऐतिहासिक होने का सन्देह करने लगते हैं, जबकि वह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। वस्तुत: देशकाल एवं वातावरण की सजीवता ही पाठकों की मन:स्थिति में भ्रमोत्पादन का कारण बनती है। यदि पुराणकालीन वातावरण में किसी पात्र को घड़ी से समय देखते हुए चित्रित किया जाय या रेलों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना दिखाया जाय तो यह हास्यास्पद होने के साथ ही पूर्णतया अस्वाभाविक एवं असत्य प्रतीत होगा। उपन्यासकार उनका विश्वास दिलाने के लिए चाहे जितनी दलीलें क्यों न उपस्थित करे! उसी भाँति आधुनिक युग से सम्बन्धित लिखे जाने वाले उपन्यासों में व्यक्ति को उड़ते हुए या गायब हो जाना चित्रित करना असंगत ही प्रतीत होगा। प्रेमचन्द के उपन्यासों में वातावरण की रक्षा के प्रति जितनी सजगता दृष्टिगोचर होती है, उतना उसके बाद के उपन्यासकारों में नहीं। बाद में मुख्यरूप से केवल चरित्रों की ही सृष्टि उपन्यासों में की गई है, और वे किसी भी वातावरण में रखकर देखे जा सकते हैं। इन उपन्यासों से तत्कालीन युग की संस्कृति अथवा सभ्यता का कोई परिचय नहीं प्राप्त हो सकता। उदाहरणार्थ 'शेखर एक जीवनी' के शेखर को किसी भी

---

१ विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (१९४२) लन्दन, पृष्ठ १४४

वातावरण से सम्बन्धित करके देखा जा सकता है। उस उपन्यास से पाठक तत्कालीन युग को समझने में पूर्णतया असमर्थ रहता है। अतः उपन्यासों में स्वाभाविकता एवं सजीवता बनाए रखने के लिए देशकाल अथवा वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। देशकाल एवं बदलते हुए वातावरण का उपन्यास में शाश्वतता के साथ चित्रण होना चाहिए, जो साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता होती है।[1]

विचार एवं उद्देश्य की गणना भी उपन्यास के तत्त्वों में की जाती है। उपन्यासकार का व्यक्तित्व उसकी कृतियों में स्पष्ट रूप से झलकता रहता है। समाज के सम्बन्ध में उसकी कुरीतियों के सम्बन्ध में, देश के सम्बन्ध में, मानवता के विशिष्ट मूल्यों के मूल्यांकन के सम्बन्ध में लेखक की कुछ अपनी मान्यताएँ, विचार एवं उद्देश्य होते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति के लिए ही वह उपन्यासों की रचना करता है। उपन्यासकार के सम्मुख कोई निश्चित उद्देश्य होता है और वह उपन्यास में घटनाओं की संयोजना इस प्रकार करता है कि वह उसी उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में अग्रसर हो। यह उद्देश्य कोई भी हो सकता है। किसी लेखक का उद्देश्य समाज की स्थिति का यथातथ्य यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करना होता है, कोई वेश्यावृत्ति या विधवा विवाह की समस्या का मार्मिक चित्रण कर उसका समाधान प्रस्तुत करना अपने उपन्यास का उद्देश्य बनाता है। कोई व्यक्ति को पूर्ण महत्ता प्रदान कर उसे समाज की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करने को अपना उद्देश्य बनाता है। वस्तुतः उद्देश्य की कोई सीमा नहीं है। जीवन की विभिन्नता और दृष्टिकोण का अन्तर ही उद्देश्य की भिन्नता और अन्तर है। चूँकि विश्व जीवन का केन्द्र बिन्दु मानव है, इसीलिए उपन्यास में प्रकट किया जाने वाला उद्देश्य भी मुख्यरूप से मानवीय जीवन के ही अधिक निकट रहता है। उपन्यासों का सर्वप्रमुख उद्देश्य होता है कि वे अपने समस्त आयामों एवं परिवेश के साहित्य की भावभूमि पर मानव सृष्टि कर उसके जीवन की उलझनों,

1 "Literature as we have seen throughout its history needs from time to time to be reinforced with fresh vitality. With new vigour; otherwise it will languish and decay."

—आर्थर काम्पटन रिकेट : ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर (लन्दन), पृष्ठ ४५३

विषमताओं आदि का चित्रण कर जीवन की समग्रता के निर्माण में सहायता प्रदान करें। अच्छे उपन्यासों में मानव को अंधेरे से निकाल कर प्रकाश की दिव्यता की ओर ले आने का प्रयास होता है। यद्यपि उनमें उपदेशक वृत्ति स्पष्टतया नहीं परिलक्षित होती, तथापि शब्दों के जाल में यह भाव लक्षित होता है। इसी महान् उद्देश्य पर उपन्यासों की श्रेष्ठता निर्भर करती है। टी० एस० इलियट ने एक बार कहा था कि साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् आत्मा से पलायन है, किन्तु प्राय: लेखक अपनी दमित-शमित भावनाओं एवं वैयक्तिक कुंठाओं तथा वर्जनाओं का चित्रण करने लगते हैं, जिनकी सार्थकता समाज के लिए कुछ भी नहीं रहती। आज यथार्थवाद आदर्शवाद तथा फ्रॉयड के तथाकथित यौनवाद एवं मनोविश्लेषणवाद के नाम पर लेखक अपने अधिकार का दुरुपयोग करने लगा है। उन लेखकों यह कदापि न भूलना चाहिए, कि समाज के प्रति उनका महान् उत्तरदायित्व है। साहित्य और समाज के मध्य दूरी इतनी समाप्त हो गई है कि समाज के नवनिर्माण एवं उसकी प्रगति का बहुत कुछ अंश इन कलाकारों पर ही है। ऐसी अवस्था में उन्हें कोरी भावुकता एवं स्वच्छंदता पूर्वक अपनी दिशा में बहने का क्या अधिकार है? फ्रॉयड के तथाकथित यौनवाद के नाम पर उपन्यास लिखकर अश्लीलता की सीमा स्पर्श करने से तो अच्छा होगा कि ये कलाकार कामशास्त्र पर ही अच्छी पुस्तकें स्पष्ट शब्दों में लिखें और स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों में छिपी हुई नई पीढ़ी की जिज्ञासा रहस्योद्घाटित करें। कम से कम प्रगतिशील हिन्दी कथा साहित्य को कुण्ठित करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। अत: स्वस्थ विचार एवं आदर्श उद्देश्यों का होना उपन्यासों की रचना प्रक्रिया की अनिवार्य मांग है, और अस्वस्थ विचार एवं घृणित उद्देश्यों की दासता स्वीकार करना अपने नैतिक दायित्वों का हनन करना है, क्योंकि 'समकालीन संकट की उलझनों से भरी हुई जटिलता में मानवीय मूल्य मर्यादा को स्थापित और विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस न कर सकने वाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाकथित कायरतापूर्ण सरल समाधान को जुए की तरह स्वीकार करके इस भय के शिकार बन चुके हैं। प्रगति और विकास की दिशा में मानव इतिहास को मोड़ने के लिए प्रत्येक जागरूक साहित्यकार को इस भय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है। यह भय मनुष्य की शिराओं में मानवीय मूल्य के स्वस्थ रक्त को कीटाणुओं की तरह दूषित कर रहा है।

यह भय इस शिविर या उस शिविर तक सीमित नहीं है। यह एक दम घोंटने वाले वातावरण की तरह पूर्ण धरती को घेरे हुए हैं' और हमें पूर्ण शक्ति के साथ उसके निराकरण करने का प्रयत्न करना है।

उपन्यासों का अन्तिम तत्व भाषा शैली है। भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है और अभिव्यक्ति का ढंग ही शैली है। उपन्यास की भाषा का रचना की सफलता में प्रमुख हाथ रहता है। भाषा जितनी ही सरल, भावाभिव्यंजक एवं बोधगम्य होती है, वह उतनी ही प्रभावशाली होती है। प्रायः अच्छी से अच्छी कृतियां अपना प्रभाव डालने में मात्र इसीलिए असफल रहती हैं कि उनमें भाषा की बोधगम्यता की रक्षा का नहीं पांडित्य प्रदर्शन का प्रयास रहता है। प्रेमचन्द के उपन्यास साधारण से साधारण पाठकों तक इसीलिए पहुँच सके कि उनकी भाषा अत्यन्त सरल एवं सरस थी। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार प्रेमचन्द की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यही था। 'शेखर : एक जीवनी' 'नदी के द्वीप' आदि उपन्यास अपने विषय की गम्भीरता के कारण साधारण पाठकों की पहुँच के बाहर तो हैं ही, उनकी भाषा सम्बन्धी दुरूहता भी इसमें कम योग नहीं प्रदान करती। भाषा के सम्बन्ध में एक अन्य आवश्यक बात स्वाभाविकता की रक्षा होती है। जिस काल का कथानक चुना जाता है, भाषा उसी के अनुरूप होती है। यह बात ऐतिहासिक उपन्यासों से विशेष सम्बन्ध रखती है। पौराणिक काल का कथानक लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों में आजकल की हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग करना असंगत ही नहीं हास्यास्पद भी होगा। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अथवा 'दिव्या' की सफलता में उनकी भाषा का विशेष योग रहा है। इन उपन्यासों की भाषा सम्बन्धी क्लिष्टता और अति दुरूहता इसीलिए क्षम्य है कि, उनके कथानक ऐसे युग से सम्बंधित हैं, जब ऐसी भाषा का प्रयोग होता था। भाषा के अनुसार ही शैली का भी महत्व उपन्यास रचना में प्रमुख होता है। उपन्यासकार कथानक के अनुरूप ही शैली का प्रयोग करता है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने वाले अथवा जीवन का विश्लेषण कर अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन करने वाले उपन्यासकारों के लिए आत्मकथात्मक शैली, अथवा संस्मरणात्मक शैली अधिक सहायक हुई है। समूचे युग जीवन को अपने उपन्यासों में समेटने वाले लेखकों की प्रिय शैली वर्णनात्मक ही रही है। यों प्रेमचन्दोत्तर कालीन उपन्यासकारों में शैली और शिल्प सम्बन्धी नवीन अन्वेषण की ओर लोगों का अधिकाधिक ध्यान गया

और उपन्यास के क्षेत्र में अनेक नवीन शैलियां प्रचलित हुई हैं। पर कभी-कभी शैली के अन्वेषण के प्रति और सस्ती ख्याति अर्जित करने के प्रति कुछ लोगों में इतना ध्यान दिया कि उनकी कृतियां विद्रूप मात्र हो बन कर रह गई हैं वास्तव में जिस प्रकार उपन्यास का मानवीय जीवन से निकटतम सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार शैली का भी मानवीय जीवन से तादात्म्य होता है। शैली की सरसता और प्रभावाभिव्यंजकता पर ही अधिकांश रूप से उपन्यास की सफलता निर्भर करती है।

इसके अतिरिक्त कल्पना (Fantasy) का भी उपन्यास रचना में महत्वपूर्ण स्थान होता है। उपन्यासकार की रचनात्मक प्रतिभा को गतिशीलता प्रदान करने में कल्पना प्रमुखरूप से सहायक होती है। कल्पना के ही माध्यम से उपन्यासकार यथार्थ धरातल से भिन्न औपन्यासिक धरातल का सृजन करता है, हमारे जीवन जैसे ही पात्रों की अवतारणा करता है, उनमें जीवन संवेदना भरने का प्रयत्न करता है। पर कल्पना का दुरुपयोग लेखक के शिल्प को दोषपूर्ण बना सकता है और पाठकों के मन में अविश्वास की भावना को जन्म दे सकता है। लेखकों को कल्पना का प्रयोग अत्यन्त सतर्कतापूर्वक करना पड़ता है और तभी अच्छी कृतियों का निर्माण हो पाता है। कल्पना के महत्व का प्रतिपादन हम 'दिव्या' और 'चित्रलेखा' जैसी कृतियों से भली-भांति दे सकते हैं, जो कल्पना के आधार पर इस प्रकार का परिचय देती हैं, मानो वे ऐतिहासिक उपन्यास हों।

नाटक

साहित्य और नाटक

साहित्य में नाटक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाटकों को यदि उचित रंगमंचों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो जाय तो वे सभी साहित्य रूपों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेते हैं। साहित्य को अन्य सभी विधाएँ केवल पढ़ी भर जा सकती हैं, उनका दृश्य आस्वादन नहीं किया जा सकता। 'गोदान' 'त्यागपत्र', 'प्रिय प्रवास', 'कामायनी' और 'साकेत' चाहे जितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ हों, पर उन्हें सिर्फ पढ़ा भर जा सकता है और उनमें जो भी सौन्दर्य तत्व अन्तर्निहित रहते हैं, उनका साधारणीकरण या अन्य माध्यमों से केवल मन में एक अनुभव किया जा सकता है। उन साहित्य रूपों में हमें कल्पना का

माध्यम ही अधिक ग्रहण करना पड़ता है। किसी उपन्यास को पढ़ते समय हम कल्पना के माध्यम से ही यह जान सकते हैं कि अमुक पात्र ने ऐसा किया होगा, अमुक पात्र की मृत्यु ऐसी हुई होगी या अमुक पात्र ने अपने मुख या क्रोध का एक विशेष भाव लाकर यह बात कही होगी। इसी प्रकार 'साकेत' पढ़ते समय हम कैकेयी का विलाप, राम की भाव प्रवणता, हनुमान जी की वाक् चतुरता एवं भरत की भक्ति का कल्पना के द्वारा अनुमान मात्र लगा सकते हैं, पर नाटकों में यह अभाव नहीं होता नाटकों की इस दृष्टि से द्विमुखी विशेषताएँ होती हैं। उन्हें अन्य साहित्य रूपों की भाँति हम पढ़ भी सकते हैं, पर अन्य साहित्य रूपों में जो विशेषता नहीं है, उसके विपरीत नाटकों में अभिनेयता के गुण होने के कारण हम उन्हें रंगमंच पर खेल कर उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। इस दृष्टि से नाटकों का साहित्य में अपना अलग ही अन्यतम स्थान होता है।

प्रश्न उठता है, नाटक है क्या? संस्कृत आचार्यों ने ''अवस्थानुकृति-र्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते'' कहकर नाटकों का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया है, अर्थात् वह साहित्य रूप जिसे अभिनीत किया जा सके, आँखों से देखा जा सके नाटक कहलाता है। संस्कृत आचार्यों में नाटक का सर्वाधिक महत्व था। नाटकशास्त्र में उसे पाँचवाँ वेद स्वीकार करते हुए कहा गया है—

न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरंवेदं पंचमं सर्ववर्णिकम्॥

नाटकों का सामाजिक रूप ही अधिक महत्वपूर्ण होता है। जो चीज पठनीय है, वह तो एकान्त में पढ़ी जा सकती है, पर जो अभिनेय है, वह एकान्त की बात नहीं हो सकती। अपने कमरे में केवल अपने लिए हम किसी नाटक को रंगमंच पर अभिनीत नहीं करवाते। नाटक जब भी अभिनीत होता है, उसके देखने वाले कुछ लोग होते हैं। नाटक में अनेक कलाओं का पूर्ण समावेश हो जाता है, यथा स्थापत्यकला; संगीतकला; मूर्तिकला; नृत्यकला; चित्रकला; आदि, इसीलिए वह प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण माना जाता है। भरत मुनि के अनुसार—

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥

अर्थात् योग, कर्म, सभी शास्त्र एवं विविध कार्यों में कोई भी ऐसा नहीं है, जिसका समावेश नाटक में न हो जाए। नाटक की मूल मनोवृत्तियाँ

चार हैं— अनुकरण, पारस्परिक परिचय, जाति रक्षा और आत्माभिव्यक्ति। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान अनुकृति का ही है। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने नाटक की मूल मनोवृत्तियों में प्रमुखता अनुकृति की ही स्वीकार की है।[1] नाटकों में कोमल ललित पद होते हैं, अर्थ की अभिव्यंजना होती है। गूढ़ शब्दार्थ होते हैं; जो विद्वानों के लिए सुखदायक होते हैं; एवं बुद्धिजीवी वर्ग जिसका अभिनय करता है, उसमें अनेक रसों का समावेश होता है, तथा सन्धियों का उचित निर्वाह होता है। भरत के अनुसार यही नाटक सर्वश्रेष्ठ होता है :

मृदुललित पदार्थ [गूढ़शब्दार्थहीनं ।
बुधजन सुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यमं ॥
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम् ।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्ष्यकाणाम् ॥

नाट्यशास्त्र : अध्याय १७

अभिनय और रंगमंच

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, रंग मंच के विकास के साथ ही नाटकों का भी विकास होता है। रंगमंच और अभिनय का अभिन्न सम्बन्ध होता है। जिस देश में रंगमंच को उचित प्रोत्साहन नहीं प्राप्त होता है वहाँ निश्चित रूप से नाटकों का भी विकास संभव नहीं हो पाया है। हमारे देश में आधुनिक कालीन नाटकों के पूर्ण विकास न होने का एकमात्र कारण रंगमंच का उचित अभाव एवं विकास का न होना ही है। जैसा कि स्पष्ट भी है कि अभिनय की सफलता पर नाटक की सफलता निर्भर करती है और नाटक की सफलता रंगमंच से सम्बद्ध होती है। यदि नाटकों में अभिनेयता पर उचित ध्यान नहीं दिया जाएगा तो रंगमंच के पूर्ण विकास के बावजूद भी कोई नाटक कभी सफल नहीं हो सकता। अभिनेयता की विशेषता से सम्पन्न नाटक ही श्रेष्ठता की कसौटी पर खरे उतर सकते हैं। नाटकों में ऐसे दृश्य विधान का आयोजन नहीं होना चाहिए, जिसका अभिनय रंगमंच पर सरलतापूर्वक न हो सके। जुलूस निकालने का दृश्य, बाढ़ आने का दृश्य मकान में आग लगाने का

1 "Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

—निकल : थ्यूरी ऑव ड्रामा

मकान गिरने का दृश्य आदि ऐसे विधान हैं, जो रंगमंच पर सफलतापूर्वक नहीं प्रस्तुत किए जा सकते और अगर इनके प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया भी जाता है तो वह पूर्णतया अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद सा प्रतीत होगा। इसी प्रकार लम्बे संवादों का रखना एक ही पात्र को आवश्यक रूप से महत्व देना, कथानक की तोड़-मरोड़ एवं भाषा की क्लिष्टता आदि अन्य ऐसी बातें हैं, जिससे नाटकों की अभिनेयता एवं रंगमंच की सफलता पर आंच आती है। भरत ने नाट्यशास्त्र में अभिनेयता एवं रंगमंच के स्वरूप पर काफी विचार किया है। उन्होंने प्रेक्षागृह तक को महत्व देते हुए उसके तीन रूप माने हैं—इनमें विकृष्ट प्रेक्षागृह सबसे श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। चतुरस्त्र एवं त्र्यस्त्र क्रमशः दूसरे एवं तीसरे प्रेक्षागृह हैं। वास्तव में अभिनय शब्द की उत्पत्ति अभिपूर्वक 'नी' धातु से हुई है। अभिनय का तात्विक अर्थ होता है सामने ले जाना। नाट्यशास्त्र में लिखा गया है कि रूपक के उचित प्रयोग, पात्रों की क्रियाशीलता, कथोपकथन, के समय या उनसे पूर्व उनकी विविध भंगिमाएं एवं अन्य चेष्टाओं से युक्त जो माध्यम कवि भावों को सामाजिकों (दर्शकों) के सम्मुख उपस्थित करता है, वस्तुतः वही अभिनय है। विश्वनाथ के अनुसार 'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः' ही अभिनय है। अभिनय भी चार प्रकार का होता है: आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। बहुविधीय अंगों की प्रक्षेपणा प्रक्रिया आंगिक अभिनय कहलाता है, गीतों प्रबंधों के पाठादि को वाचिक अभिनय कहते हैं। आभूषणादि की श्रृंगार सज्जा को आहार्य अभिनय एवं स्वेद एवं रोमांचादि को सात्विक अभिनय कहते हैं। नाटकों की अभिनेयता के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए—

१—नाटक का स्वरूप एवं आकार
२—दृश्य एवं अंकों के विभाजन में परस्पर संतुलन
३—भाव एवं रस का साधारणीकरण
४—कथोपकथन की संक्षिप्त एवं भावाभिव्यंजना की समर्थता
५—नृत्य एवं गीत की उचित व्यवस्था
६—भाषा की सरलता
७—कुशल प्रस्तुतीकरण
८—उचित दृश्य विधान एवं प्रकाश की समुचित व्यवस्था

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब तक नाटक की रचना करते समय नाटककार का ध्यान अभिनेयता एवं रंगमंच की ओर नहीं रहेगा, तब तक नाटकों की सफलता भी अनिश्चित एवं सन्दिग्ध रहेगी।

नाटक के तत्व

संस्कृत आचार्यों ने नाटकों के तीन प्रमुख तत्व स्वीकार किए हैं—वस्तु, नेता और रस। (वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक: दशरूपक) इन्हीं तत्वों के आधार पर फिर रूपकों के दस भेद किए गए हैं। अरस्तू ने नाटक के छह तत्व माने हैं—कथानक, चरित्र चित्रण, पदरचना, विचारदर्शन, दृश्यविधान और गीत। भारतीय विद्वानों ने नाटक के पांच तत्व माने हैं—कथावस्तु, पात्र, रस, अभिनय, तथा वृत्ति।

कथावस्तु

नाटक की वस्तु या कथानक को ही कथावस्तु कहा जाता है। इसे अंग्रेजी में Plot कहा जाता है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु का नाटक में महत्वपूर्ण स्थान होता है। नाटक का मुख्य उद्देश्य इसी आधिकारिक कथावस्तु के माध्यम से पूर्ण होता है। 'अधिकार: फल स्वाम्यम्' अर्थात 'अधिकार' फल का स्वामित्व है। जो व्यक्ति इस स्वामित्व को प्राप्त करेगा, वह 'अधिकारी' होगा और आधिकारिक कथावस्तु इसी 'अधिकारी' से सम्बद्ध होगी। इसे दशरूपककार में इस प्रकार लिखा गया है—

अधिकार: फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु:।
तन्नि वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधि कारिकम्॥

प्रासंगिक कथावस्तु इसी आधिकारिक कथावस्तु की सहायता करने एवं उसे और भी स्पष्टतया प्रकाशित करने के लिए होती है। यह आधिकारिक कथावस्तु के सौंदर्य में अभिवृद्धि करती है तथा उसे तीव्रतर रूप प्रदान करती है। यह आधिकारिक कथावस्तु के विकास, कार्य व्यापार में सहायता देती है तथा मूल उद्देश्य की प्राप्ति में आधिकारिक कथावस्तु की सहायक सिद्ध होती है। साहित्यदर्पण में इसकी परिभाषा देते हुए लिखा गया है—

अस्योपकरणार्थं तु प्रासंगिक मिति इष्यते।

प्रासंगिक कथा के दो भेद होते हैं—

१—पताका

२—प्रकरी

पताका की परिभाषा देते हुए भरतमुनि ने लिखा है—

यद्वृत्तं हि पदार्थं स्याद् प्रधानस्योपकारकम् ।
प्रधान वच्च कल्पयेत् सा पताकेति कीर्तिता ।।

प्रासंगिक कथा में जो कथा काफी दूर तक चली जाती है, उसे पताका कहते हैं। इसके विपरीत प्रकरी प्रासंगिक कथा में कुछ दूर चल कर ही समाप्त हो जाती है। इसकी परिभाषा नाट्यशास्त्र में इस प्रकार दी गई है—

फलं संकल्पयते सद्भिः परार्थं यस्य केवलम् ।
अनुबंधेन दीनस्य प्रकरी तां विनिर्दिशेत् ।।

ऐतिहासिकता के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद किए जाते हैं—

१ प्रख्यात—ऐसी कथा, जो इतिहास, पुराण या लोक सम्मत हो।

२ उत्पाद्य—ऐसी कथा, जो पूर्णतया काल्पनिक हो।

३ मिश्र—ऐसी कथा, जहाँ कल्पना एवं ऐतिहासिकता का सम्मिश्रण हो।

कार्यावस्था—यहाँ कार्यावस्था पर भी विचार कर लेना चाहिए। भारतीय आचार्यों ने कार्य की निम्नलिखित अवस्थाएं मानी हैं—

१ प्रारम्भ—इस कार्यावस्था में नायक किसी वस्तु को देखने की तीव्र इच्छा प्रकट करता है। भरतमुनि के अनुसार—"औत्सुक्य मात्र बन्धुस्तु यद्बीजस्य निबध्यते महत: फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते :" यही कथा का प्रारम्भ माना जा सकता है। 'शकुन्तला' में दुष्यन्त का शकुन्तला को देखने की इच्छा प्रकट करना ही प्रारम्भ है।

२ प्रयत्न—अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए नायक जो भी कार्य करता है, उसे प्रयत्न कहते हैं, अर्थात दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखने की इच्छा प्रकट की। अब वह कोई जादूगर तो हैं नहीं कि उन्होंने इच्छा प्रकट कर दी और जादू के बल से शकुंतला उनके नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाएगी। उन्हें अपनी इस इच्छा पूर्ति के लिए अनेक माध्यम अपनाने पड़ेंगे। यही प्रयत्न अवस्था है। दशरूपकार ने लिखा है—"प्रयत्नस्तु तद्प्राप्तौ व्यापारो इति त्वयान्वित: ।" अर्थात इच्छित फल की प्राप्ति के लिए व्यापार का जो स्वरूप निर्धारित किया जाता है, वही प्रयत्न है।

३ प्राप्त्याशा—इच्छित फल की प्राप्ति हेतु प्रयत्न किए जाने के फलस्वरूप जब मनोवांछित फल की प्राप्ति के लिए कुछ आशा दिखाई पड़ने लगती है तब इस अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं। दशरूपककार ने लिखा है : उपायापाय शंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्ति सम्भवा' अर्थात् नायक प्रयत्न करता है पर बीच में कोई बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे उसे सन्देह होने लगता है कि पता नहीं फल मिलेगा या नहीं। जब वह बाधा समाप्त हो जाती है तब उसे कुछ-कुछ आशा दिखाई पड़ने लगती है कि अब कदाचित फल प्राप्ति हो जाय। 'शकुंतला' में जब दुष्यन्त को यह आशा थी कि उन्हें शकुंतला मिल जाएगी, तभी दुर्वासा के शाप से बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती, पर दुर्वासा का शाप समाप्त होने के पश्चात् उन्हें पुनः इस बात की आशा दृष्टिगोचर होने लगती है कि अब कदाचित शकुंतला मिल जाए।

४ नियताप्ति—इस अवस्था में सारे अवरोध समाप्त हो जाते हैं और यह एक प्रकार से निश्चित सा हो जाता है कि अब फल की प्राप्ति होगी ही।

साहित्य दर्पणकार ने लिखा है—

"अपनयाभावतः प्राप्तिः नियताप्तिस्तुनिश्चिता:"

'शकुंतला' में जब दुष्यन्त को मछली पकड़ने वाला लाकर अंगूठी दे देता है तो दुर्वासा का शाप समाप्त हो जाता है और एक प्रकार से प्रायः निश्चित सा हो जाता है कि फल की प्राप्ति होगी।

५ फलागम—इसमें फल की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात दुष्यन्त और शकुंतला का परस्पर मिलन हो जाता है।

अर्थ प्रकृति—नायक कभी अर्थ की कामना करता है कभी धर्म की और कभी काम की। कभी इन तीनों की कामना करता है या दो की। इस कामना पूर्ति के लिए अर्थ प्रकृति की कल्पना की जाती है, जो संख्या में पाँच है :

१ बीज—यह प्रारम्भ नायक कार्य अवस्था से सम्बद्ध है। बीज प्रारम्भ में बोया गया वह तत्व जो अन्त में प्राप्त फल की अवस्था का कारण होता है। दशरूपककार ने कहा है—'स्तोकोद्दिष्ट कार्यसाधक:' अर्थात् अल्प शब्दों में कह गये फल की अन्तिम अवस्था की ओर ले जाने वाले साधन

को बीज कहते हैं। यह मुख्य कथा का प्रमुख भाग होता है जो नाटक के साथ ही क्रमशः स्पष्ट एवं गतिशील होता है।

२ बिन्दु—इसमें नायक अपने बीज को विस्तृत करता है। यह वह माध्यम है जो अवान्तर कथा को गतिशील करती है और प्रधान कथा को विच्छिन्न होने से रोकती है। इस सम्बन्ध में दशरूपककार का कहना है :

'अवान्तरार्थ विच्छेदे बिन्दुरच्छेद कारणम्' अर्थात् मुख्य कथा के प्रभाव के कारण जब अवान्तर कथा विच्छिन्न होने लगती है, तब उसे सतत रूप से गतिशील करने का कार्य बिन्दु करता है।

३ पताका—इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यह आधिकारिक कथावस्तु को आगे बढ़ाता है और उसके साथ बराबर चलता रहता है, बीच में समाप्त नहीं हो जाता है।

४ प्रकरी—इसका भी उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यह भी आधिकारिक कथावस्तु की गतिशीलता बनाये रखने में सहायक होती है, पर पताका की भाँति अन्त तक नहीं चलती, बीच ही में समाप्त हो जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि पताका और प्रकरी दोनों ही प्रासंगिक कथा के दो विभिन्न रूप हैं जो मूल कथा के विकास में सहायक होती हैं।

५ कार्य—कार्य नाटक का वह साध्य है जिसके लिए सारी योजना बनती है और कार्य व्यापार होते हैं। दशरूपककार ने लिखा है :

"अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्॥"

अर्थात् जिस साध्य के लिए समस्त उपायों को आरम्भ किया जाता है एवं जिसकी सिद्धि के लिए समस्त सामग्री एकत्रित की जाती है वह कार्य है।

सन्धि—कथावस्तु के विभिन्न अंगों का सम्बन्ध जोड़ने वाले माध्यम को सन्धि कहते हैं। सन्धि की परिभाषा धनंजय ने इस प्रकार दी है—

'अन्तरैकार्थ सम्बन्धः संधिरेकान्वये सन्धि।' इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि अर्थप्रकृति एवं कार्य की अवस्थाओं में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने को ही सन्धि कहते हैं। इसकी संख्या पाँच है—

१ मुख सन्धि—प्रारम्भ नायक अवस्था में अनेक अर्थों एवं रसों की उत्पत्ति जहाँ होती है, उसे मुख सन्धि कहते हैं। मुख सन्धि में प्रारम्भ अवस्था एवं बीज का संयोग होता है जिससे अनेक अर्थों एवं रसों की अभिव्यंजना होती है। धनंजय के अनुसार—

"मुखं बीज समुत्पत्ति नानार्थरस सम्भवः,
अंगानि द्वादश तस्य बीजारम्भ समन्वयात् ।"

अर्थात् मुख सन्धि से विभिन्न उपकथाओं, रसों एवं वस्तुओं की उद्भावना होती है।

२ प्रतिमुख सन्धि—इसमें अन्तिम फल का साधक इतिवृत्त कभी स्पष्ट रहता है कभी अस्पष्ट। दशरूपककार के अनुसार 'लक्ष्यालक्ष्यतयो उद्भेदः तस्य प्रतिमुखं भवेत्।' अर्थात् कथा का वह स्थल जहाँ बीज थोड़ा लक्ष्य हो और थोड़ा अलक्ष्य। इसकी स्थिति बिन्दु और प्रयत्न के मध्य मानी जाती है।

३ गर्भ सन्धि—प्रतिमुख सन्धि में जिन बीजों का प्रकाशन होता है, उनका गर्भसन्धि में अनेक बार प्रकाशन होता है, साथ ही वे तिरोभवित भी हो जाते हैं। धनंजय के अनुसार 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्य अन्वेषणम्।' अर्थात् प्रतिमुख सन्धि में प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव एवं अन्वेषण होता रहता है।

४ विमर्श सन्धि—जब गर्भ सन्धि की अपेक्षा बीज का अत्यधिक विस्तार हो जाता है तथा फलागम की स्थिति में अनेक शंकाएं एवं बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं तब विमर्श सन्धि कहते हैं। दशरूपककार ने इसे अवमर्श सन्धि लिखा है और उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है—

"क्रोधेनावमृषेद्यत्र व्यसनात् वा विलोभनात्।
गर्भ निर्भिन्न बीजार्थः सो अवमर्शो अंगसंग्रहः॥"

अर्थात् बीज का अधिक विस्तार हो जाता है और फलोन्मुख में शाप, क्रोध, विपत्ति एवं प्रलोभन आदि कारण अवरोध उपस्थित हो जाता है, तब विमर्श सन्धि होती है।

५ निर्वहण सन्धि—ऊपर जिन चार सन्धियों का उल्लेख किया गया उनके प्रकट अर्थों का फलागम की प्राप्ति के लिए निर्वहण सन्धि में समाहार हो जाता है। दशरूपककार के अनुसार—

"बीजवन्तो मुखाद्यर्थाः विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणम् हितम्॥"

यह अन्तिम सन्धि है। इसमें बीज की परिणति फलरूप में होती है।

कथोपकथन

भारतीय नाट्यशास्त्र में कथोपकथन को भी कथावस्तु का ही एक भाग माना जाता है। कथोपकथन को संक्षिप्त होना चाहिए एवं अर्थ की अभिव्यंजना से परिपूर्ण होना चाहिए। कथोपकथन के लिए सरल भाषा का उपयोग आवश्यक होता है क्योंकि देखने वाले दर्शक या सामाजिक सभी विद्वान या साहित्यिक नहीं होते, अनावश्यक कथोपकथन से भी नाटक की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। कथोपकथन की दृष्टि से भी कथावस्तु का विभाजन किया जाता है :

१ श्रव्य—ऐसे कथोपकथन, जिसे सभी सामाजिक सुनते हैं।
२ अश्रव्य—ऐसे कथोपकथन, जिसे सभी सामाजिक नहीं सुन पाते।
३ नियत श्रव्य—जिसे कुछ निश्चित पात्र ही सुन सकते हैं।

आकाशभाषित—यह भी कथोपकथन का ही एक पद होता है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब पात्र आकाश की ओर देखते हुए ऐसा अभिनय करता है, मानो वह कुछ सुन रहा है और स्वयं ही वह प्रश्नों को पुनः दुहराता भी है तथा स्वयं ही उन प्रश्नों का उत्तर भी देता है तो इसे आकाश भाषित कहते हैं।

पात्र

पात्रों से अभिप्राय होता है, नाटक में भाग लेने वाले कलाकार, या अभिनेता। इनमें नायक का स्थान प्रमुख होता है। पश्चिमी नाटकों में नायक के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। नायक उच्च वर्गीय भी हो सकता है, निम्नवर्गीय भी हमारे यहाँ नायक के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ सीमाएँ हैं। हमारे यहाँ दुःखान्त नाटकों की परिकल्पना नहीं की जाती, केवल सुखान्त नाटक लिखे जाते हैं। सुखान्त नाटक तभी हो सकता है जब अन्त में नायक की विजय हो और विजय उसी नायक की हो सकती है जिसका असाधारण व्यक्तित्व हो, जो शक्तिशाली और समर्थ हो। स्पष्ट है ऐसा नायक निम्न-वर्गीय नहीं हो सकता। अतः हमारे यहाँ नायक अधिकांश रूप से उच्च वर्ग से ही सम्बन्धित होते हैं। नायक की भी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए धनंजय ने लिखा है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंश स्थिरो युवा॥

बुद्ध युत्साहस्मृति प्रज्ञाकला मानसमन्वितः ।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।।

अर्थात् नेता (नायक) को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवचन बोलने वाला, अच्छे मार्ग का अनुगमन करने वाला, पवित्र, वाणी कुशल, उच्च वंशीय, स्थिर स्वभाव वाला, साहसी, स्मृति वाला, प्रज्ञावान, कलाकार, शास्त्र ज्ञाता तथा धार्मिक आदि गुणों से संपन्न होना चाहिए।

नायक के चार भेद होते हैं—'भेदैः चतुर्धा ललित शान्तोदात्तोद्धतैर-यम्''—अर्थात् धीरोदात्त, धीर ललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत चार प्रकार के नायक होते हैं।

१ धीरोदात्त नायक—इस चरित्र में उदारता होती है, अपार शक्ति और क्षमाशीलता के कारण ही वह विजयी होता है। इस श्रेणी के नायक अधि-कांश रूप में राजा या देवता होते हैं। धीरोदात्त नायक के गुणों का उल्लेख करते हुए दशरूपककार का कथन है—

''महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान विकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः ।।''

अर्थात् धीरोदात्त नायक में गम्भीरता, क्षमाशीलता, दृढ़ता आदि गुण होते हैं। उसमें आत्मगौरव होता है, अहंकार तथा दर्प से वह पूर्णतया मुक्त रहता है।

२ धीरललित नायक—इस प्रकार के नायक में स्वभावगत कोमलता तो होती है, पर उसमें विलासिता की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है। कहा गया है, 'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः'' अर्थात् धीरललित नायक निश्चिन्त एवं आश्वस्त रहता है, कलाकार होता है और वह सुख चाहता है।

३—धीर प्रशान्त नायक—इस प्रकार के नायक के स्वभाव में सागर सी गहराई, गम्भीरता एवं प्रशान्तता होती है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है—

''सामान्यगुण युक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः'' अर्थात् यह शान्त स्वभाव वाला होता है तथा ब्राह्मण या वैश्य श्रेणी का होता है।

४ धीरोद्धत नायक—यह सबसे निकृष्ट कोटि का नायक होता है, बड़ा ही मायावी होता है, स्वभाव से अहंकारी, दुष्ट, क्रोधी एवं विश्वासघात करने वाला होता है। इसके सम्बन्ध में कथन है :

"दर्पमात्सर्यभूमिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥

अर्थात् इसमें दर्प होता है, उद्धतस्वभाव होता है अहंकार होता है रावण इसका उदाहरण है।

नायिका—नायक की पत्नी या प्रेमिका नायिका कहलाती है। जो गुण नायक में होते हैं, वही गुण नायिका में भी होने चाहिए। दशरूपककार ने नायिका के तीन भेद किए हैं—स्वकीया; परकीया; सामान्या। स्वकीया के भी तीन भेद होते हैं—मुग्धा; मध्या; प्रगल्भा। परकीया के दो भेद होते हैं—ऊढ़ा और अनूढ़ा। सामान्या नायिका का दूसरा रूप वेश्या भी है।

विदूषक—विदूषक हास्य सृष्टि के लिए रखा जाता है। वह नायक का सखा सहचर होता है। प्रबल एवं कार्यावस्था में नायक की सहायता करता है। गंभीरता एवं गुरुता के वातावरण में उपस्थित होकर वह सरस अभिनय एवं व्यंग्योक्तियों से सामाजिकों का मनोरंजन करता है।

चरित्र चित्रण

पात्रों के चरित्र चित्रण की सफलता पर बहुत कुछ नाटक की भी सफलता आधारित रहती है। जिस पात्र का सफल चरित्र-चित्रण नहीं हो पाता, वह दर्शकों या सामाजिकों के हृदय पर कोई छाप नहीं डाल सकता अतः नाटकों में कुशल चरित्र चित्रण का होना आवश्यक होता है। वह एक प्रकार से नाटक का प्राण होता है। नाटकों में चरित्र चित्रण की दो पद्धति होती है :

१ परोक्ष रूप से—जब पात्र स्वयं अपने चरित्र पर स्वगत कथन के माध्यम से प्रकाश डाले।

२ अभिनयात्मक—जब दूसरे पात्र अन्य पात्रों के सम्बन्ध में कथोपकथनों के माध्यम से प्रकाश डाले और उनके चरित्र को स्पष्ट करे।

रस

रस को काव्य की आत्मा माना गया है। नाटक का प्रधान उद्देश्य यह होता है कि वह दर्शकों या सामाजिकों में साधारणीकरण के माध्यम से रस की उपलब्धि कराए। नाटकों में रस साध्य है, इसलिए उसे महत्वपूर्ण माना जाता है। एक लेखक के अनुसार, 'भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को मुख्य तत्व मानता है, चरित्र निर्देश उसके लिए अपेक्षाकृत गौण वस्तु है

और वस्तु-विकास और भी ऊपरी तथ्य है। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी नाटक वस्तु या कथानक को नाटक का सर्वप्रमुख तत्व मानता है और चरित्र-चित्रण को दूसरा स्थान देता है (यद्यपि इन दोनों की प्रमुखता के प्रश्न को लेकर भी वहाँ पर्याप्त मतभेद है)। रसात्मक आस्वाद या सौन्दर्यबोध को पश्चिमी नाटक बहुत दिनों तक स्वतन्त्र तत्व मानते ही न थे। इसका कारण यह है कि काव्य की रसात्मक या सौन्दर्य विधायिनी सत्ता की स्वतन्त्र प्रतीति पश्चिम में बहुत बाद को हुई और काव्यानुभूति एक विशेष आध्यात्मिक तथ्य है, यह निर्णय तो और भी नया है।''' भारत में इस सिद्धान्त की स्थापना द्वारा काव्य के आनन्दात्मक (सौन्दर्य मूलक) स्वरूप की अभिज्ञता बहुत पहले हो चुकी थी। इसलिए भारतीय नाटककार रस को नाटक की आत्मा मानकर अन्य तथ्यों को उसका अनुवर्ती साधक या सहायक मानते रहे हैं।' इस के सम्बन्ध में भरत, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त आदि आचार्यों के सिद्धान्तों की समीक्षा पीछे की जा चुकी है। उसका यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक रूप से पिष्टपेषण मात्र ही होगा।

इस सम्बन्ध में अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त का भी थोड़ा उल्लेख कर देना उचित होगा। विरेचन सिद्धान्त भी सामान्यतः रस आस्वादन से ही सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिकों या दर्शकों में अतिरिक्त उद्वेगों का जो शमन होता है, या भावों का जो नवीन संस्कार होता है, वह सामाजिकों या दर्शकों को ऐसी स्थिति में ला देता है, जिसमें उनके अंतस्तल में सुखानुभूति उत्पन्न होती है और वे आनन्दोपलब्धि करते हैं। भारतीय आचार्यों का मत भी इसी प्रकार था, अतः अरस्तू ने कोई विशेष नई बात अपने विरेचन सिद्धान्त में नहीं कही। पर भारतीय मत से उसमें यही अन्तर है कि विरेचन सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। उसमें स्वयं आनन्दोद्रेक की समर्थता नहीं है, जिसके फलस्वरूप दुःख के अभाव की स्थिति जन्म लेती है। '''''दुःख के अभाव का अर्थ हुआ आत्मा की क्षतिपूर्ति अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण। यह स्थिति भी निश्चय ही अनुकूल है; परन्तु आत्मा की वृद्धि अथवा चेतना के उत्कर्ष के समकक्ष तो वह नहीं हो सकती। अरस्तू प्रतिपादित विरेचन जन्य प्रभाव भट्टनायक-अभिनव के रस में यही अन्तर है और यह अन्तर साधारण नहीं है—'क्षति पूर्ति' और 'लाभ' का अन्तर है।' अतः यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यद्यपि अरस्तू ने अपने विरेचन सिद्धान्त में कोई नई बात नहीं कही है, फिर भी उसके सिद्धान्त में और

भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त में अन्तर है। भारतीय रस सिद्धान्त पूर्ण है, अभावहीन है, जबकि अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त अपूर्ण है और अभावयुक्त है।

अभिनय

नाटकों की सफलता में अभिनय का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। दर्शक या सामाजिक प्रमुख रूप से पात्रों के अभिनय से ही प्रभावित होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अभिनय की कुशलता से ही दर्शक प्रभावित होता है और रस का आस्वादन करता है। प्रायः देखा गया है कि कुशल अभिनय दर्शकों को रुला देता है। मर्मस्पर्शी अभिनय नाटक के प्राण होते हैं। अभिनय भी चार प्रकार का होता है—आंगिक; वाचिक; आहार्य और सात्विक। इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

वृत्ति

भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटक का अन्तिम तत्व वृत्ति है। इसका सम्बन्ध नाटक की गतिशीलता से होता है। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं :—

१ कैशकी वृत्ति—इसका सम्बन्ध प्रमुख रूप से हास्य एवं श्रृंगार रस से रहता है। यह कोमलता की सीमा मानी जाती है। इसमें नृत्य एवं संगीत की प्रधानता रहती है। इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी जाती है।

२ सात्वती वृत्ति—इसमें वीरता, ओज एवं उत्साह से सम्बन्धित कार्यों की प्रधानता रहती है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी जाती है।

३ आरभटी वृत्ति—इसका सम्बन्ध युद्ध, क्रोध, माया आदि से होता है। इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी जाती है।

४ भारती वृत्ति—इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी जाती है। इसमें नारीपात्र वर्जित होते हैं। इसमें केवल नटों या भरतों का समावेश होता है। साहित्य-दर्पणकार के अनुसार भारती वृत्ति सभी रसों के काम में आती है।

स्वगत कथन

स्वगत कथन का सम्बन्ध एक प्रकार से कथोपकथन से ही होता है। ऐसे कथोपकथन, जिन्हें पात्र स्वयं ही अपने आप से कहता है, स्वगत कथन कहलाते हैं। स्वगत कथन का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। पात्रों

की मनःस्थिति, उनकी आन्तरिक वृत्तियों के प्रकाशन एवं चरित्र की स्पष्टता की दृष्टि से स्वगत कथन का उल्लेखनीय स्थान होता है।

संकलनमय

प्राचीन आचार्यों का कहना था कि नाटकों में स्थान, काल और कार्य की रचना एकता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए; अर्थात् नाटक में जिन घटनाओं का संयोजन किया जाए, वे एक ही स्थान से सम्बन्धित हों, भिन्न-भिन्न स्थानों से नहीं। नाटक में जितना समय अभिनय करने में लगता हो, उतने ही समय का नाटक भी होना चाहिए और फिर नाटक में एक ही कथा हो, प्रासंगिक कथाओं का तिरस्कार करना चाहिए। यही संकलनमय कहलाता है।

पाश्चात्य नाटक के सिद्धान्त

पश्चिमी देशों में नाट्यकला पर सर्वप्रथम विचार विवेचन यूनान में हुआ था, जहाँ के प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू का सिद्धान्त महत्वपूर्ण हुआ है। उसके सिद्धान्तों का उल्लेख 'पोयटिक्स' नामक उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ में मिलता है। उसने नाटक की दो कोटियाँ मानी हैं—ट्रेजेडी तथा कॉमेडी।

ट्रेजेडी सिद्धान्त—अरस्तू ने ट्रेजेडी को अत्यधिक महत्व दिया है। उसके अनुसार ट्रेजेडी उस कार्य की अनुकृति है, जो गम्भीर है, पूर्ण है और आनन्द प्रदान करने वाले अंगों से सम्बद्ध है। जो नाटकीय रूप में हो, न कि वर्णनात्मक रूप में और जो ऐसी घटनाओं का संयोजन करे जिससे भय की उत्पत्ति हो जिससे भावनाओं का परिष्करण हो सके।[1] अरस्तू ने, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है ट्रेजेडी के कथावस्तु, पात्र, भाषाशैली, विचार, छन्द, गति और दृश्य आदि तत्व माने हैं। अरस्तू ने घटना संकलन पर बड़ा बल दिया है।

---

1. "A tragedy, then is the imitation of an action, that is serious, and also as having magnitude, complete in itself, in language with pleasurable accessaries, each kind brought separately in the parts of the work, in dramatic not in a narrative form with incidents arousing pity and fear where with to accomplish its catharsis of such emotions."

—अरस्तू : थ्यूरी ऑव पोयट्री एण्ड फाइन आर्ट्स (प्रो० बूचर द्वारा संपादित)

ट्रेजेडी नायक—अरस्तु के सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण बात उसके द्वारा निर्धारित ट्रेजेडी नायक का स्वरूप है। उसके अनुसार ट्रेजेडी नायक उच्चवंशीय तो हो किन्तु उसमें असाधारणता या अलौकिकता का समावेश न होना चाहिए, अर्थात् उसके व्यक्तित्व में देवत्व की प्रतिष्ठापना न होना चाहिए, उसका स्वरूप साधारण मानवों की भाँति ही होना चाहिए, उसमें दृढ़ता होनी चाहिए और उसका आत्मविश्वास सबल होना चाहिए, उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा का स्वरूप उसके व्यक्तित्व एवं स्वरूप के अनुकूल ही हो।

कॉमिडी सिद्धान्त—अरस्तू ने कॉमेडी नाटकों की व्यवस्था करते हुए बताया है कि इसमें ऐसे पात्रों की परिकल्पना की जानी चाहिए जो निम्न-कोटि से सम्बन्ध रखते हों। इसमें उल्लेख किये जाने वाले विषयों का स्वरूप सरल हो। गम्भीरता एवं गुरुता का समावेश कॉमेडी नाटकों में न होना चाहिए।

होरेस का सिद्धान्त—अरस्तू की भाँति होरेस का नाट्य सिद्धान्त भी बहुत प्रसिद्ध हुआ है। वह रोमन आचार्य था। उसके सिद्धान्तों का विवेचन उसके ग्रन्थ 'दी अपीलस टु द पिसोस'' में प्राप्त होता है। उसके अनुसार नाटककार को चरित्र-चित्रण करते समय इस बात का प्रमुख रूप से ध्यान रखना चाहिए कि जनता की परम्परागत भावनाएं क्या हैं? उसे इन भावनाओं का समावेश करना चाहिए। उसे अशोभनीय एवं निषिद्ध घटनाओं का संयोजन अपने नाटकों में नहीं करना चाहिए। नाटक में केवल पाँच अंक हों। देवताओं की परिकल्पना रंगमंच पर न हो। इब्सन ने अपने सिद्धान्तों को थोड़ा सुधार कर आधुनिक काल में प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार नाटक में प्रस्तावना (Exposition), आरम्भिक घटना (Initial incident), विकासोन्मुख कार्य व्यापार (Rising action), चरमोत्कर्ष (Crisis), निगति (Falling action), दुर्घटना (Catastrophe) नाटकीय कथावस्तु के प्रमुख अंग होते हैं।

नाटक एवं यथार्थवाद

यथार्थवाद (Realism) का प्रादुर्भाव साहित्य क्षेत्र में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। यथार्थवाद ने भावुकता पूर्ण आदर्शवाद का विरोध करते हुए सत्य

चित्रण एवं स्वाभाविकता पर बल दिया। यथार्थवाद ने इस बात का आग्रह किया कि नाटकों में जो भी पात्र लिए जाएँ, वे यथार्थ जगत के हों, हमारे जाने पहचाने हों, उनकी समस्याएँ भी यथार्थ जगत की हों जिससे वे हमारी अपनी प्रतीत हों। यथार्थवाद के नाटकों में समावेश होने से भावुकतापूर्ण रोमांटिक प्रवृत्ति तिरोहित हो गई और जीवन की सत्यता का प्रस्फुटन नाटकों में भी होने लगा। यथार्थवाद के प्रभावस्वरूप नाटकीय पात्रों का संघर्ष केवल बाह्य जगत तक ही सीमित न रहकर आन्तरिक जगत तक भी विस्तृत हो गया। यथार्थवाद ने इस प्रकार-कला एवं मानवता की महान् सेवाएँ की हैं।"[1] यथार्थवाद ने समानता का प्रसार कर वर्ग वैषम्य की भावना का निराकरण किया है। नाटकीय पात्र अब प्रत्येक वर्गों से लिये जाने लगे। नायक के संबंध में भी सीमाएँ शिथिल हो गई और उच्चवर्गीय नायकों के साथ निम्न-वर्गीय नायकों का भी चित्रण उपन्यासों में होने लगा। उच्चवर्ग के साथ ही निम्नवर्गों की परिस्थितियों एवं समस्याओं का चित्रण भी यथार्थवाद के कारण सत्य एवं स्वाभाविक ढंग से होने लगा। यह बहुत बड़ी क्रान्ति थी। विदेशों में यथार्थवादी नाटककारों में इब्सन (१८२८-१९०६) का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद का प्रवेश आधुनिक काल में ही हुआ है।

एकांकी नाटक

एकांकी के उद्भव और विकास के लिए हिन्दी पश्चिमी साहित्य की ऋणी है। एकांकी नाटक वस्तुतः पश्चिम की ही देन है। एकांकी नाटकों का सिद्धान्त अभी सर्वमान्य रूप से हिन्दी में निश्चित नहीं हो सका है, क्योंकि संस्कृत आचार्यों ने उनका कहीं उल्लेख नहीं किया है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि एकांकी नाटकों के माध्यम से जीवन के किसी एक पक्ष, घटना, चरित्र, कार्य या भाव को कलात्मक रूप से इस प्रकार

1 'Realism has done to art and humanity, a great service in its deliberate extension of the subject matter of art to include the humble, despised and rejected, to allow the representation of all phases of modern industrial and agricultural life, and describe the customs and manners of all level of society."

— बी० आर मिल्लेट : द आर्ट ऑव ड्रामा, पृष्ठ १५२

प्रस्तुत किया जाता है कि वे सामाजिकों के मन में सहज ही घर कर जाते हैं और उन पर अपनी तीव्रानुभूति की प्रतिक्रिया छोड़ जाते हैं। एकांकी नाटक के आकार की सीमाएँ होती हैं। नाटक के समान होते हुए भी वह सीमित है, उसका एक प्रकार का लघुतम रूप है। इसमें केवल एक ही अंक होता है। दृश्यविधान के अनुसार इसके दो भेद किए जा सकते हैं—

१—पहले तो ऐसे एकांकी नाटक, जिनमें एक अंक के साथ ही दृश्य भी मात्र एक ही होता है। रंगमंच पर पर्दा उठता है और जो दृश्य सामाजिकों के सम्मुख उपस्थित होता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता और सारा एकांकी समाप्त हो जाता है।

२—दूसरे प्रकार के एकांकी वे होते हैं जिनमें अनेक दृश्य होते हैं, हालांकि अंक इनमें भी एक ही होता है। इनमें विभिन्न स्थानों एवं समयों में घटित होने वाली घटना का चित्रण कर कथावस्तु में एक प्रकार की विचित्र कौतूहलता एवं वक्रता उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। इस श्रेणी के एकांकियों में समय, स्थान एवं कार्य की परस्पर एकता नहीं बनी रह पाती।

एकांकी शिल्प—एकांकी नाटक में केवल आधिकारिक कथावस्तु होती है। इसमें दुरूहता या जटिलता का समावेश करने का प्रयत्न नहीं होता और प्रयास यही किया जाता है कि कथा का विकास सरल किन्तु अत्यन्त तीव्ररूप में हो। प्रासंगिक कथा का इसमें यथासंभव बहिष्कार करने का प्रयत्न किया जाता है। केवल एक ही मुख्य घटना होती है जो अनेक सहायक घटनाओं की सहायता से अन्तिम परिणति की दिशा में तीव्रतर रूप में गतिशील होती है। स्पष्ट है कि सीमा की सीमितता के कारण इसमें अधिक पात्रों का समावेश नहीं हो सकता, अत: कम से कम पात्रों को लेकर कथा का निर्वाह करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें प्राय: मुख्य पात्र ही रखे जाते हैं, जिनका कथावस्तु से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। गौण पात्र या तो होते ही नहीं और अगर होते भी हैं तो उनका मुख्य कथावस्तु में महत्वपूर्ण स्थान होता है और मुख्य पात्रों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पात्र किसी भी वर्ग से हो सकते हैं पर उनका चरित्र-चित्रण यथार्थवादी ढंग से होना चाहिए।

एकांकी नाटक के आकार के सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि एकांकी नाटक और अनेक अंकों वाले नाटकों के मध्य वही सम्बन्ध होता है जो कहानी और उपन्यास में होता है। एक का परिवेश व्यापक

होता है, एक का सीमित। एकांकी में अनेकांकी नाटकों की तरह विस्तार नहीं होता, उसमें किसी घटना को संक्षेप में, पर अत्यन्त तीव्रता के साथ उपस्थित करना पड़ता है, इसलिए एकांकीकार का कौशल सर्वप्रमुख हो जाता है। यह एकांकीकार की कुशल कला एवं एकांकी-शिल्प पर ही निर्भर होता है कि वह किसी बात को कम से कम समय में इस कौशल से उपस्थित करे कि दर्शक भावाभिव्यंजना की तीव्रता में भावविभोर एवं रस-मग्न हो उठे। उसमें एकाग्रता, उत्तेजना, उद्देश्योन्मुखता एवं कौतूहलता लाने का कठिन कार्य एकांकीकार को करना है, जिसके अभाव में एकांकी की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। एकांकी में कार्य, स्थान एवं काल की एकता के सम्बन्ध में कोई अनिवार्य नियम नहीं है और न उनके कठोरता से पालन करने के प्रति आग्रह ही किया जाता है। यह एकांकीकार की रुचि, कौशल एवं समर्थता पर निर्भर होता है।

कथोपकथन एकांकी को एक प्रकार से आत्मा होते हैं। सीमित परिवेश होने के कारण विषय विस्तार की संभावना एवं अवसर एकांकीकार को नहीं होता, इसीलिए वह कथोपकथनों के माध्यम से ही कथावस्तु का विस्तार करता है। यह समझ लेना चाहिए कि अनेकांकी नाटकों में थोड़ी बहुत स्थूलता रहती है। एकांकी में ऐसी सम्भावना नहीं रहती है। एकांकी नाटक एक प्रकार से आधुनिक युग में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण है, अतः एकांकियों में कथोपकथन का महत्त्व अत्यधिक हो जाता है। कथोपकथन की संक्षिप्त एवं स्वाभाविक भावाभिव्यंजना की शक्ति से परिपूर्ण रोचक, प्रभावशील एवं वाग्विदग्धता की विशेषता से सम्पन्न करने में एकांकीकार का कौशल होता है। यद्यपि कथोपकथन की भाषा पात्रों के स्वभाव, जाति एवं प्रवृत्ति के अनुसार होती है, पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि भाषा में रवानगी, सरलता, सुबोधता एवं मितव्ययता होनी चाहिए। एकांकी में स्वगत कथन या आकाशभाषित का प्रयोग नहीं होता, अतः पात्रों के आन्तरिक भावों को स्पष्ट करने के लिए अलग दृश्य या वस्तु की कल्पना करनी पड़ती है।

एकांकी में रंग संकेत का भी अपना महत्त्व होता है। रंगभूमि की व्यवस्था एवं साज-सज्जा के लिए एकांकीकार रंग-संकेत दे देता है कि घटना कब, कहाँ और किस समय घटित हुई थी? पात्रों की वृत्तियाँ, मुद्राएं या स्वरूप क्या है, उनकी आयु क्या है तथा उनकी वेशभूषा किस प्रकार

होनी चाहिए ? प्रकाश, ध्वनि आदि की सामान्य व्यवस्था क्या होनी चाहिए ? यह सब रंग संकेत के ही अन्तर्गत आता है और एकांकीकार को इसकी व्यवस्था बड़ी सूक्ष्मता एवं कुशलता से करनी पड़ती है।

हिन्दी में एकांकियों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है, यही कोई पचास-साठ वर्ष का। ऊपर बताया हो जा चुका है कि एकांकी आधुनिक युग की ही देन है। जिस प्रकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी नाटकों के जन्मदाता हैं, उसी प्रकार वे आधुनिक एकांकी के भी जन्मदाता हैं। उनका 'वैदिक हिंसा-हिंसा न भवति' हिन्दी का निश्चित रूप से प्रथम एकांकी है। उनके समकालीन दूसरे एकांकीकार राधाचरण गोस्वामी, बाल-कृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, देवकीनन्दन खत्री, राधाकृष्ण दास तथा अम्बिकादत्त व्यास आदि थे, जिन्होंने हिन्दी एकांकी के विकास में प्रारम्भिक काल में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी एकांकी के विकास का दूसरा चरण १९२९ से प्रारम्भ होता है, जब श्री जयशंकर 'प्रसाद' का 'एक घूँट' प्रकाशित हुआ था। 'एक घूँट' में मनोवैज्ञानिकता, काल, समय एवं स्थापना की एकता, वातावरण की प्रभावशीलता एवं कुशल रचना शिल्प का समावेश प्राप्त होता है, जो उसे भारतेन्दु कालीन एकांकी नाटकों से सर्वथा भिन्न स्थान प्रदान करता है। हिन्दी एकांकी के वर्तमान स्वरूप का आरम्भ १९३५ से होता है, जब भुवनेश्वर का प्रसिद्ध एकांकी 'कारवां' प्रकाशित हुआ था। भुवनेश्वर ने आधुनिक एकांकी की उन सभी विशेषताओं को आत्मसात् कर लिया था जो प्रसाद किसी अंश तक नहीं कर पाए थे, अतः हिन्दी एकांकियों को नया मोड़ देने का कार्य आधुनिक काल में भुवने-श्वर ने किया था। बड़े खेद की बात है कि कुछ दुराग्रही व्यक्ति भुवनेश्वर को बिल्कुल भूल कर अन्य व्यक्तियों को इस गौरव पद पर आसीन करना चाहते हैं जिसके न तो वे अधिकारी हैं और जिनमें भुवनेश्वर जैसी कुशलता एवं एकांकी शिल्प ही है। भुवनेश्वर द्वारा स्थापित इस नई दिशा को ही आधुनिक युग में घुमा-फिरा कर विभिन्न एकांकीकारों ने अपनाया है। हाँ, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीश चन्द्र माथुर, सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र एवं उदयशंकर भट्ट ने इस दिशा में इधर कुछ नए प्रयोग अवश्य किए हैं। आज के युग के प्रमुख एकांकीकारों में भुवनेश्वर, जगदीश चन्द्र माथुर, सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावन लाल वर्मा, उदयशंकर भट्ट, विष्णुप्रभाकर आदि हैं। रामकुमार वर्मा के कुछ

एकांकी अवश्य सफल रहे हैं। हिन्दी एकांकी के विकास के चरण में तीन प्रमुख चरण हैं, जिनके अधिनायक क्रमशः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, जयशंकर 'प्रसाद' तथा भुवनेश्वर हैं। हिन्दी एकांकी के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ही हैं, इस सम्बन्ध में कोई दो राय नहीं हो सकती।

गीति नाट्य

गीति नाट्यों का जन्म अभी अधिक दिन नहीं हुए, १८५४ में हुआ है। १८५४ में रिच्युसिनो कृत डेफ्ने को यूनानी दुःखान्त नाटकों को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से रंगमंच पर अभिनीत किया गया था, जिसमें गीतात्मक भाषा का प्रयोग किया गया था। गीतिनाट्य के प्रमुख अंग होते हैं—प्रस्तावना, कथावस्तु, संवादाभिनय, गीत एवं नृत्य। इसमें कथावस्तु को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है, इसीलिए इसे गीति नाट्य कहा जाता है। इसके प्रस्तुत करने की शैली दो हैं—

१—एक शैली तो वह, जिसमें गीति नाट्य को मूक अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें एक दल अनेक वाद्य यन्त्रों की सहायता से भावनात्मक एवं संवादात्मक गीत गाता है और दूसरा दल उन्हीं की भावों के लय पर मूक अभिनय कर भावों को कुशलता पूर्वक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

२—दूसरी शैली वह है, जिसमें संवादों की प्रधानता रहती है। इसमें संवाद गद्य में रहते हैं और संवाद के अतिरिक्त जो कथा शेष रहती है उसे गायकों का दल गीतों द्वारा अभिव्यक्त करता है या एक भावनट एवं भावनटी आकर नृत्य द्वारा उन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। हिन्दी में अभी तक गीति नाट्यों का बहुत अधिक विकास नहीं हुआ है।

कहानी

कहानी का लक्ष्य

कहानी[1] गद्य-साहित्य का अन्यतम रूप है। आधुनिक साहित्य में इसका एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। इसकी अत्यधिक बढ़ती हुई लोक-

1 Short story can be anything from the prose poem painted rather than writer to the piece of straight reportas in which style, colur and elaboration have no place; from the piece which catches like a cal·

प्रियता का सर्वप्रमुख कारण यह है कि आज का मानव जीवन अत्यधिक व्यस्त है। लोग अवकाश खोजते हैं, पर उन्हें अल्पांश में ही प्राप्त हो पाता है और इस क्षणिक अवकाश में जब वे कुछ मनोरंजन के लिए पढ़ना चाहते हैं तो उपन्यास की ओर चाहते हुए भी हाथ इसलिए नहीं बढ़ा पाते क्योंकि वे जानते हैं इस क्षणिक अवकाश में उपन्यास को समाप्त करना दुर्लभ है। इसीलिए वे कहानियाँ पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि उनका आकार लघु होता है और वे कम से कम समय में पढ़ी जा सकती हैं। प्राय: यह कहा जाता है कि कहानियाँ उपन्यास का नवीन रूप हैं और वे शीघ्र ही उपन्यासों का स्थान ले लेंगी। यह भी कहा गया है कि उपन्यास और छोटी कहानी में केवल आकार के अन्तर के अतिरिक्त कोई और अन्तर नहीं है। पर यह सोचना उतना ही हास्यास्पद है, जितना कि तर्कहीन है। उपन्यासों में मानव जीवन के बहुविधीय पक्षों का एक व्यापक परिवेश में चित्रण होता है। वहाँ आकार की कोई सीमा नहीं रहती, पर कहानियों में ऐसी सीमा का निर्धारण रहता है। कहानी अधिक से अधिक पंद्रह पृष्ठों की ही हो सकती है जिसे पंद्रह-बीस मिनट में पढ़ा जा सके। कहानी में मानव जीवन के किसी एक ही पक्ष या घटना का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया जाता है। कहानी इस प्रकार कभी भी उपन्यासों का स्थानापन्न नहीं बन सकती। जैसा कि दावा किया जाता है, क्योंकि उपन्यासों में मानव जीवन की जिस सम्पूर्णता का चित्रण होता है कहानियों में आकार-सीमा के कारण उसकी कोई संभावना नहीं रह जाती। यद्यपि कहानी और उपन्यास के मूल तत्वों में रूपगत समानता है और उनमें परस्पर सामंजस्य भी है, किन्तु जहाँ तक दोनों साहित्य रूपों के शिल्प-विधान का प्रश्न है दोनों में यथेष्ट अन्तर है। उपन्यास में एकाधिक संवेदनाओं का विकास होता है। आधिकारिक कथा के साथ अनेक अवांतर कथाएँ चलती हैं जिससे सम्पूर्ण मानवीय जीवन का

---

wel the light subtle ividescene of emotions that can never be really captured or measured to the 'solid tale in which, all emotions all action, all reaction is measured, fixed, glaxed and finished like a well build have with three coats of shining and induring paint."

——एच० ई० बेट्स : द मॉडर्न शॉर्ट स्टोरीज़, पृष्ठ १६

प्रतिबिम्ब उपस्थित हो सके। पात्रों का जमघट सा लगा रहता है और उनके चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार को यथेष्ट अवसर एवं अवकाश रहता है। इसके विपरीत कहानी में एक ही मानवीय संवेदना को अत्यन्त तीव्रतर रूप में उपस्थित किया जाता है। पात्रों की संख्या भी एक दो से अधिक नहीं रहती, उनका चरित्र-चित्रण भी थोड़े में ही करना पड़ता है, इसीलिए कहानी का एक-एक शब्द सार्थक, प्राणवान एवं समर्थ होता है।

कहानी की एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। कहा गया है कि कहानी में किसी ऐसी छोटी घटना का वर्णन होना चाहिए कि उसे एक ही बैठक में पूर्णतः पढ़ा जा सके पर उसका प्रभाव पूर्ण और अन्तिम होना चाहिए।[1] यह भी कहा गया है कि कहानी में केवल एक ही सूचना होना चाहिए और उसे तर्कपूर्ण ढंग से एक ही उद्देश्य की पूर्णता के लिए अग्रसर होना चाहिए।[2] एक सुविज्ञ का कहना है कि कहानी में एक कथा होनी चाहिए। घटनाओं से परिपूर्ण बातों का संचयन होना चाहिए, अप्रत्याशित रूप से चरमोत्कर्ष का सृजन होना चाहिए और संतोष की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।[3] एक दूसरे जानकार का मत है कि कहानी बिलकुल घुड़दौड़ के सामान होती है, जिसमें प्रारम्भ एवं अन्त का अत्यधिक महत्व होता है।[4] एक भारतीय

1 "A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression complete and final in itself."

—एडगर एलेन पो

2 "A short story must contain one and only one informative idea and that the idea must be worked out to its logical connections with absolute singleness of aim and directness of method."

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (मार्च १९६०) लन्दन, पृष्ठ ३३६

3 "A short story should be story, a record of things happening full of incidents and accidents, swift movement, unexpected development leading through suspense to a climax and satisfying denowment."

—सर ह्यु पोल

4 "A short story is just like a horse race. It is the start and finish which count most."

—एसरी

विद्वान का कहना है—कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौड़ने के सामान है।' अभी उस दिन दिल्ली में प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार जी से बात हो रही थी। कहानियों पर चर्चा छिड़ते ही उन्होंने अपनी दार्शनिकता के स्वर में कहा—कहानी बस कहानी होती है। उनकी बातों का मर्म समझ में आया। वे कहानी में कहानी का होना आवश्यक मानते हैं। आज कहानियों में कथा तत्त्व की जो उपेक्षा होती है उसे बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। कहानियों का वास्तविक लक्ष्य जीवन के किसी रहस्य का मार्मिक उद्घाटन होता है। कहानियों का लक्ष्य जीवन के किसी सत्य से हमें परिचित कराना होता है। जहाँ तक मेरा अपना मत है, 'कहानी जीवन की एक संवेदना होती है, जिसका परिवेश सीमित होते हुए भी भावानुभूति की गहनता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है कहानियों के आकार के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। हाँ, उसे इतनी बड़ी नहीं होनी चाहिए कि वह लघु उपन्यास का रूप धारण कर ले। कहानियों की संक्षिप्तता सराहनीय होती है, इसे स्वीकार करना पड़ेगा।'

कहानी के उपकरण

कहानी के लिखने के लिए कहानीकार को कहीं भटकना नहीं पड़ता। वह जो जीवन जीता है उसी से कहानियों की प्रेरणा भी लेता है। उस जीवन के किसी संवेदनशील घटना को चुन लेता है और उसे शब्दों में अत्यन्त सूक्ष्मता एवं कुशलता से वह बाँधने का प्रयत्न करता है। इसके लिए उसे अनेक उपकरण जुटाने पड़ते हैं जो एक प्रकार कहानी-शिल्प में सम्मिलित हो जाते हैं। ये विभिन्न उपकरण ही वस्तुतः कहानी के तत्त्व होते हैं जिनसे मिलकर एक कहानी बनती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कहानीकार कहानी लिखते समय इन तत्त्वों का पहले सहन अध्ययन कर फिर कहानी लिखने में दत्तचित्त नहीं होता, वरन् सौ में ९० कहानी में ये सभी तत्त्व तो स्वयमेव आ जाते हैं। कहानी कला के निम्नलिखित तत्त्व हैं—

१—कथावस्तु
२—पात्र और चरित्र-चित्रण
३—कथोपकथन
४—वातावरण

१—डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सातवाँ संस्करण) इलाहाबाद, पृष्ठ ३२४

५—उद्देश्य

६—भाषा एवं शैली

कथावस्तु कहानी की रीढ़ है। कहानी में कोई न कोई कथा होती है। कहानी में जो भी विषय लिया जाय, उसका स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि उसे कम से कम समय में अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया जा सके। कथावस्तु के लिए अधिक विस्तृत विषय लेना इसलिए उचित नहीं होता क्योंकि उसका विस्तार हो जाने का भय रहता है और यदि उसे सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो उसमें भावों का पूर्ण प्रकाशन और कथावस्तु का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। इस विषय निर्वाचन की कसौटी के संबंध में पाठकों की रुचि-अरुचि का भी ध्यान रखना चाहिए। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि ऐसी कथावस्तु न चुननी चाहिए जिसके सम्बन्ध में इस बात की संभावना हो कि वह पाठकों के लिए अरुचिकर सिद्ध होगी। कहानीकार का महत्वपूर्ण दायित्व होता है। वह वही जीवन जीता है, जो साधारण मानव जीते हैं। वह उन्हीं साधारण मानवों के बीच रहकर उनके कार्य-व्यापारों, उनके मनोविज्ञान एवं गतिविधियों आदि का अध्ययन करता है और उन्हें अपनी कहानी में अंकित करता है। अच्छा यही होता है जब कहानीकार मानव जीवन के ही किसी पक्ष को कथावस्तु के लिए लेता है और उसमें किसी मानवीय संवेदना को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। कथावस्तु का सुस्पष्ट होना, संतुलित होना और विषय प्रतिपादन में पूर्ण होना आवश्यक होता है। यहाँ यह भ्रम नहीं उत्पन्न होना चाहिए कि कहानी में किसी एक ही पक्ष या घटना का चित्रण करना अन्तिम रूप से आवश्यक होता है। इसमें किसी चरित्र के एक पक्ष या अनुभव या किसी अनुभव का भी चित्रण हो सकता है। मुख्य बात यह होती है कि कहानीकार का शिल्प किस प्रकार का है अर्थात् इन सब बातों को वह प्रस्तुत किस प्रकार करता है? कथावस्तु में जब मानवीय अन्तर्द्वन्द्व एवं मनोवैज्ञानिक भावों का चित्रण होता है तब उसमें और भी सूक्ष्मता आ जाती है। कथावस्तु के स्वरूप की दृष्टि से उसके तीन भाग हो सकते हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, और भाव प्रधान। घटना प्रधान कथावस्तु की घटनाओं की बहुलता रहती है। उसमें संयोग तत्वों (chance Elements) की प्रधानता होती है। रोमांचकारी शिकारी या जासूसी कहानियाँ इसी श्रेणी में होती हैं। चरित्र प्रधान कथावस्तु में घटनाओं को महत्व नहीं दिया जाता, बल्कि किसी चरित्र को प्रधानता देकर उसके विविध पक्षों

का उद्‌घाटन किया जाता है। इसमें मनोवैज्ञानिक तत्वों एवं मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के आधार पर किसी चरित्र को स्पष्ट करने का प्रयत्न होता है। प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी', जैनेन्द्रकुमार कृत 'मास्टर जी', राजेन्द्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है', मन्नू भण्डारी की 'एक कमजोर लड़की की कहानी', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' तथा इन पंक्तियों के लेखक की 'घिरती सांझ: उड़ती धूल' इसी श्रेणी की कहानियां हैं। भाव-प्रधान कथावस्तु में न तो घटनाओं को महत्व प्रदान होता है, न किसी चरित्र को वरन् किसी अनुभूति की प्रमुखता प्राप्त होती है। इसमें कथावस्तु का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एवं अमूर्त होता है। इसमें भावुकता की प्रधानता हो जाती है। प्रसाद की अधिकांश कहानियां इसी श्रेणी की हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कथावस्तु की तीन श्रेणियां होती हैं: आरम्भ, मध्य, चरम सीमा। कथावस्तु का आरम्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इसमें कहानीकार का कलात्मक कौशल झलकता है। उसके उद्देश्य का बीज यहीं अपरोक्ष रूप से स्पष्ट हो जाता है। कहानी की मुख्य जिज्ञासा एवं समस्या का स्पष्टीकरण भी इसी आरम्भ में निहित रहता है। कथावस्तु के मध्य भाग में जिज्ञासा एवं मूल समस्या का विस्तार होता है। बातें काफी स्पष्ट हो चली होती हैं। यहीं एक प्रकार से कहानी की आत्मा प्रस्फुटित होती है। यहीं से कौतूहल का भी विस्तार प्रारम्भ हो जाता है, जिसकी अन्तिम परिणति चरमोत्कर्ष में होती है। चरमसीमा में जिज्ञासा एवं मूल समस्या बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, साथ ही कहानीकार का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। चरमसीमा की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण होती है। जैसे पारा अपनी अन्तिम सीमा पर जाकर झनझनाकर टूट जाता है वैसे ही चरमसीमा पर आकर कहानी के सभी रहस्यों का एक साथ ही पर्दाफाश हो जाता है। चरमसीमा पर कहानी का कुछ भी रहस्यमय नहीं रह जाता। अच्छी कहानियों को चरमसीमा पर ही समाप्त हो जाना चाहिए। पहले कथावस्तु में चरमसीमा के बाद उपसंहार देने की भी प्रथा थी। प्रेमचन्द काल में तो इसका बहुत ही प्रचलन था, पर बाद में उपसंहार का पूर्ण तिरस्कार किया जाने लगा और कहानियां चरमसीमा पर ही समाप्त होने लगीं। कथावस्तु में पूर्ण एकता होनी आवश्यक होती है। एकता से अभिप्राय उद्देश्य, कार्य-व्यापार एवं प्रभाव की परस्पर एकता से है। इस एकता की उपलब्धि प्राप्त करना कहानी कला की सबसे कठिन वस्तु होती है, किन्तु जिन कहानियों में इस एकता की उपलब्धि होती है,

उनसे विचारवान पाठकों को एक स्वर्गीय आनन्द की सी प्राप्ति होती है।[1] वास्तव में यह एकता कहानियों की प्रभावशीलता में वृद्धि कर देती है।

कहानी शिल्प का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व पात्र एवं चरित्र चित्रण है। कथावस्तु यदि मूल भीति है तो पात्र उसके खेवनहार हैं और चरित्र-चित्रण उसका आधार। यों तो पात्र किस वर्ग से लिए जाएँ, इस सम्बन्ध में आज के कहानीकार के लिए कोई बन्धन नहीं है। वह अपने पात्रों को समाज के किसी वर्ग से भी ले सकता है। चाहे वह उच्चवर्गीय हों, या निम्नवर्गीय। हाँ, पात्रों के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन बातें आवश्यक होती हैं : पहली बात तो यह पात्रों को पूर्ण स्वाभाविक होना चाहिए और कहानी की मूल कथा के साथ उनका पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। दूसरी बात यह कि पात्रों को पूर्ण सजीव एवं सप्राण होना चाहिए और तीसरी बात जो भी पात्र लिए जाएं, वे सुलभ हों। उनका स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि पाठकों को यह संदेह होने लगे कि वास्तविक रूप से तो ऐसे पात्र होते ही नहीं। पात्र दो प्रकार के होते हैं—ऐतिहासिक-पौराणिक एवं सामान्य। ऐतिहासिक पौराणिक पात्रों का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित होना चाहिए कि वे

---

1 "A skilful literary artist.... having conceived, with deliberate care, a certain unique or single effect to be wrought out, he then invents such incidents, he then combines such invents—as may best aid him in establishing this preconceived effect. If his very initial sentence not to the outbringing of this effect, then he has failed in his first step. In the whole composition then should be no word written, of which tendency, direct or indirect, is not to the one pre-established design. And by such means, with such care and skill, a picture is at length pointed which leaves in the mind of him who contemplates it with a kindred art, a sense of the fullest satisfaction. The idea of the tale has been presented unblemished because undisturbed; and this is an end unattainable by the novel."

—एडगर एलेन पो

इतिहास सम्मत हों और उन्हें तुरन्त ही पहचाना जा सके। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में अत्यधिक कल्पना की आवश्यकता होती है, पर कभी-कभी कल्पना की दुरूहता इन पात्रों के स्वरूप को जटिल, साथ ही अस्पष्ट बना देती है। सामान्य पात्रों के साधारणीकरण में लेखक को कोई कठिनाई इसलिए नहीं होती, क्योंकि वे हमारे अपने बीच के होते हैं और पाठकों को उन्हें पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में कल्पनाशीलता के स्थान पर यथार्थता की अनुभूति से काम लिया जाता है। सामान्य पात्रों की भी दो श्रेणियाँ हो सकती हैं—एक तो वे जिनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, ये वैयक्तिक पात्र होते हैं। दूसरे वे जो किसी वर्ग या जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं, ये टाइप पात्र होते हैं। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि चरित्र-चित्रण में कहानीकार को विशेष कलात्मक कौशल की आवश्यकता होती है। कहानी का आकार सीमित होता है, अतः उतने में कम से कम समय में पात्रों का पूर्ण चरित्र स्पष्ट करना पड़ता है। चरित्र चित्रण के लिए प्रायः चार पद्धतियों का उपयोग किया जाता है—वर्णन, संकेत, कथोपकथन तथा घटनाओं द्वारा। वर्णन पद्धति में तो कहानीकार स्वयं अपनी ओर से ही पात्रों के चरित्र की समस्त विशेषताओं का वर्णन कर देता है, और उनके सम्बन्ध में कुछ भी रहस्यमय नहीं रखता। संकेत पद्धति में लेखक पहले कुछ सामान्य संकेत दे देता है फिर उसके साथ पात्र का सम्बन्ध जोड़ देता है। वह पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी नहीं कहता। कथोपकथन पद्धति में दो पात्र अपने द्वारा प्रत्यक्ष किए जाने वाले संवादों के माध्यम से ही पात्रों का चरित्र स्पष्ट कर देते हैं। घटनाओं के द्वारा चरित्र-चित्रण करने की पद्धति में लेखक अपने पात्र को एक विशेष घटना में डाल देता है और उस स्थिति में पात्र का जो आचरण होता है उससे पाठकों को स्वयं ही अनुमान द्वारा पात्रों के चरित्र को समझना पड़ता है। आजकल कहानी में मनोविश्लेषण के प्रवेश से पात्रों के आन्तरिक भावों को स्पष्ट कर उनके चरित्र को स्पष्ट किया जाता है। इसकी तीन पद्धतियाँ हैं—निरपेक्ष विश्लेषण जिसमें स्वयं लेखक अपने पात्रों के मानसिक भावों का विश्लेषण करता है। आत्म-विश्लेषण, जिसमें पात्र स्वयं अपनी आन्तरिक चित्तवृत्तियों का विश्लेषण करता है और मानसिक ऊहापोह द्वारा विश्लेषण, जिसमें स्वयं पात्र तर्क-वितर्क करके अपने अन्तर्द्वन्द्वों को स्पष्ट कर अपने चरित्र को स्पष्ट करता है।

कहानी में कथोपकथन का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। कथोपकथन से ही कुशल कहानीकार स्वयं निरपेक्ष रहकर मूल कथा का भी विकास करता है और पात्रों का चरित्र-चित्रण भी स्पष्ट करता है। कथोपकथन का एक तीसरा कार्य कौतूहलता एवं उत्सुकता को निरन्तर बनाए रखना भी होता है। कथोपकथन की विशेषता उसकी संक्षिप्तता, पर सार्थकता में होती है। भावाभिव्यक्ति की समर्थता से पूर्ण, जिज्ञासा से भरपूर तो व्यंग्यपूर्ण कथोपकथन श्रेष्ठ माने जाते हैं। कथोपकथन तीन प्रकार के होते हैं—पूर्ण नाटकीय, जिसमें केवल कथोपकथन ही होते हैं, कहानी के कार्य व्यापारों का संकेत नहीं होता है; संकेतपूर्ण, जिसमें पात्रों की मुद्राओं के संकेत के माध्यम से कथोपकथन में गतिशीलता उत्पन्न होती है; घटनापूर्ण, जिसमें घटनाओं के माध्यम से कथोपकथन आगे गतिशील होते हैं। कहानी का अगला महत्वपूर्ण तत्व उसकी स्थिति एवं वातावरण है। स्थिति एवं वातावरण का मूल कथा के साथ पूर्ण तादात्म्य होना आवश्यक है। इसी से कहानी में स्वाभाविकता आती है और सत्यता का आभास होता है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक कहानियों में तो वातावरण का और भी महत्व हो जाता है। वहाँ युगीन संस्कृति, सभ्यता एवं जीवन का पाठकों को पूर्ण विश्वास दिलाना पड़ता है, यदि ऐसा न हो तो कहानी असफल ही रहती है। सामाजिक कहानियों में भी समकालीन जीवन और समाज के वातावरण का समावेश कुशलतापूर्वक हो जाता है। इससे कहानी का परिवेश भी व्यापक बनता है, साथ ही उसमें यथार्थता भी आती है।

कहानी तत्व की अगली महत्वपूर्ण बात उद्देश्य होती है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि कहानियाँ कभी उद्देश्यहीन नहीं होतीं। वे किसी न किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही लिखी जाती हैं। इस उद्देश्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। कहानीकार का उद्देश्य सुधार का हो सकता है, उपदेश का हो सकता है, मनोरंजन का हो सकता है, अपने सिद्धान्तों के प्रचार का हो सकता है या पाठकों को किसी यथार्थ स्थिति का विशेष सत्य से परिचित करा देने भर का भी हो सकता है। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे उद्देश्य हो सकते हैं जिनको सामने रखकर कहानी की रचना होती है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने वाली बात यह है कि कहानीकार का जो भी उद्देश्य हो उसमें कलाकार की ईमानदारी, सत्यता एवं पूर्ण स्वाभाविकता होनी चाहिए, साथ ही जन-जीवन से सम्बन्धित होना चाहिए। कहानी कला का अगला

तत्व भाषाशैली है। भाषा का सरस, सुबोध एवं प्रवाहमय होना कहानी में प्राण संचार के लिए आवश्यक होता है। क्लिष्ट एवं संस्कृतनिष्ठ भाषा रखने से दुरूहता उत्पन्न हो जाती है, जिससे कहानी की रसमयता समाप्त हो जाती है। शैली का तात्पर्य कहानी के प्रस्तुतीकरण से होता है। शैली के पाँच रूप होते हैं—वर्णनात्मक; पत्रात्मक; आत्म-कथात्मक; डायरी; मिश्रित शैलियाँ। वर्णनात्मक शैली तो कहानी की चिर-प्रचलित एवं सर्व-सामान्य शैली है। इसमें लेखक स्वयं ही किस्सागोई के ढंग से सारी कहानी सुनाता चलता है। पत्रात्मक शैली में कुछ पत्रों के माध्यम से सारी कथा कही जाती है। ये पत्र एक ही पात्र के भी हो सकते हैं या कई पात्रों के आत्मकथात्मक शैली में एक या अनेक पात्र स्वयं ही अपनी कहानी सुनाते चलते हैं। इसमें लेखक तटस्थ होता है। डायरी शैली में पत्रात्मक शैली की भाँति किसी पात्र की डायरी के कुछ पृष्ठों के माध्यम से सारी कथा प्रस्तुत होती है। ये डायरी के पृष्ठ एक से अधिक पात्रों के भी हो सकते हैं। मिश्रित शैली में कई शैलियों का मिश्रण हो जाता है, जिसमें डायरी, पत्रात्मक, आत्मकथात्मक आदि शैलियों के सम्मिश्रण से मूल कथा को प्रस्तुत किया जाता है।

कहानी की कोटियाँ

कहानियों के यों तो अनेक कोटियाँ बनायी जा सकती हैं, क्योंकि कहानी का स्वरूप निर्धारित करने में लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। फिर भी कहानी की प्रमुख कोटियाँ इस प्रकार हो सकती हैं:—

१ घटना प्रधान कहानी—जिसमें घटनाओं की बहुलता होती है; जैसे कौशिक की 'ताई'।

२ चरित्रप्रधान कहानी—जिसमें किसी चरित्र को ही प्रमुखता प्रदान कर उसका चित्रण हो, जैसे प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी'।

३ वातावरण प्रधान कहानी—जिसमें चरित्र और घटनाओं की अपेक्षा वातावरण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है; जैसे प्रसाद का 'देवरथ' या 'आकाश दीप'।

४ भावप्रधान कहानी—जिसमें किसी भाव विशेष पर बल दिया जाता है; जैसे जैनेन्द्र कृत 'नीलम देश की राजकन्या'।

५ ऐतिहासिक कहानी—जिसमें किसी ऐतिहासिक कथानक को चित्रित किया जाता है; जैसे प्रेमचन्द की 'राजा हरदौल'।

६ सामाजिक कहानी—जिसमें समाज की किसी समस्या का चित्रण होता है; जैसे प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी'।

७ मनोविश्लेषणात्मक कहानी—जिसमें पात्रों के मनोविश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर बल दिया जाता है। कहानी का यह रूप सर्वथा नवीन है। इसका उदाहरण जैनेन्द्र की 'मास्टर जी' और अज्ञेय का 'सांप' है।

इसके अतिरिक्त जासूसी कहानियाँ, साहसिक कहानियाँ, शिकार की कहानियां, जंगल की कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ आदि अनेक अन्य वर्गीकरण भी किये जा सकते हैं, पर यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो इन सभी का समावेश ऊपर किए गये वर्गीकरण में हो जाता है।

रेखाचित्र—रिपोर्ताज

रेखाचित्र किसी चित्रकार की तूलिका द्वारा खींचे गये चित्र के समान होता है, जिसमें किसी अनुभूति के माध्यम से रेखाओं के जाल में अन्तर्निहित मार्मिक सजीवता लिए हुए एक शब्दचित्र अंकित किया जाता है। रेखाचित्र किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना का चित्रांकन है, भावमय रूपविधान है, जिसमें व्यंग्य, अनुभूति एवं शाब्दिक चित्रों की प्रधानता रहती है। रेखाचित्र में एक-एक शब्द का अपना महत्व होता है। कोई शब्द इसमें निरर्थक नहीं होता। वे सभी- समर्थ, प्राणवान् एवं अनूठे अर्थों की मार्मिक अभिव्यंजना करने वाले होते हैं। रेखाचित्र लिखने के लिए कलाकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, हृदय का संवेदनशील एवं भाव-प्रवण होना अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी व्यक्ति का रेखाचित्र सफल कलात्मक ढंग से लेखक ज्यों-का-त्यों इस प्रकार खींच देता है कि पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह व्यक्ति हमारे नेत्रों के सम्मुख खड़ा है। इसमें लेखक के शिल्प का बड़ा महत्व होता है। वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँख खोलकर दुनिया को नहीं देखा, जिसे कभी जीवन संग्राम में जूझने का अवसर नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिन्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है। रेखाचित्र कला की चरम अभि-

व्यक्ति है। महादेवी वर्मा कृत 'अतीत के चलचित्र', 'पथ के साथी' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' प्रसिद्ध रेखाचित्र हैं।

रिपोर्ताज् शब्द किसी घटना की रिपोर्ट देने के समान ही होता है। इसमें लेखक किसी घटना का वर्णन या विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मानो वह किसी चीज़ की रिपोर्ट अपने पाठकों को दे रहा है। इसमें उस घटना से पूर्णरूप से लेखक का परिचित होना आवश्यक होता है। घटना से सम्बन्धित पात्रों की बाह्य रूपरेखा का पाठकों के सम्मुख अत्यन्त सूक्ष्मता एवं कलात्मकता के साथ अभिव्यक्त होना आवश्यक होता है। इसमें लेखक का निष्पक्ष होना आवश्यक होता है। रिपोर्ताज् काल्पनिक भी हो सकते हैं, यथार्थ भी, पर उनका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार होता है, मानो वे यथार्थ जीवन से ही सम्बन्धित हैं। रिपोर्ताज के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें जो कुछ भी कहा जाय पूर्णतया सत्य, स्वाभाविक एवं मार्मिक भावाभिव्यंजना से परिपूर्ण प्रतीत हो। अमृत राय तथा रांगेय राघव की अनेक रिपोर्ताज् प्रसिद्ध हैं।

निबन्ध

निबन्ध की विशेषता

निबन्ध शब्द हिन्दी में संस्कृत से ग्रहण किया गया है। निबन्ध गद्य का अन्यतम बौद्धिक रूप-विधान है जिसमें पूर्ण स्वच्छन्दता, सम्बद्धता एवं प्रवाह के साथ सुगठित शैली में किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है, तथा जिस पर लेखक के व्यक्तित्व की अमिट छाप रहती है। एक सुविज्ञ के अनुसार निबन्ध उस गद्य को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य लेखकों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय। भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उसकी अनुभूति का प्रकृति या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे। निबन्ध लेखक

अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर छूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता हुआ चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार निबन्ध से तात्पर्य सच्चे साहित्यिक निबन्धों से है जिसमें लेखक अपने आप को प्रकट करता है, विषय को नहीं। विषय तो बहाना मात्र होता है। 'निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है। इसलिए सामाजिक परिस्थितियों का जैसा सीधा और स्पष्ट प्रभाव निबन्धों पर दिखाई पड़ता है वैसा अन्य साहित्यिक रूपों पर नहीं। निबन्धकार बाह्य जगत् से प्राप्त अपनी संवेदनाओं को शीघ्र ही कम से कम परिवर्तित रूप में यथासम्भव अन्य साहित्यिक रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से अपनी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका और पाठक का इतना सीधा सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नहीं मिलता। अवश्य ही यह बात नैसर्गिक निबन्ध लेखक के लिए कही जा सकती है।' निबन्ध के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत भी विचारणीय है। एलेक्जेन्डर स्मिथ ने इस निबन्ध को गीत की प्रतिकृति माना है।[1] एक अन्य विचारक ने निबन्ध को गद्य का असंगठित एवं अव्यवस्थित रूप स्वीकार किया है।[2] मन की उच्छृंखल स्थिति की निबन्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति करता है। एक सुधिज्ञ ने निबन्ध को ऐसी रचना शैली के रूप में स्वीकार किया है जिसमें पाठकों को श्रोता समझकर निबन्धकार वार्तालाप करता है।[3] एक अन्य विचारक के अनुसार

1 "The essays as a literary form resembles the lyric in so for as it is moulded by some central mood, whimsical, serious or saterical. Give the mood and the essay from the first sentence to the last, grows around it is the coceon grows around the silk worm."

—एलेक्जेन्डर स्मिथ : आन द राइटिंग ऑव ऐसे नामक लेख में

2 "A loose sally of mind, an irregular indigested piece, not a regular and orderly performance."

—डॉ० जॉनसन

3 "It is an intimate confessional style of composition where the writer takes the reader into confidence and talks as if to any one listener; talks to about

निबन्ध किसी विषय का संक्षिप्त विश्लेषण ही नहीं होता, बल्कि विषय से संबंधित क्षणों में लेखक के मानसिक भावों का प्रकाश भी उसमें पाते हैं। वैयक्तिकता इसकी सर्व प्रमुख विशेषता होती है।' इन सभी परिभाषाओं पर विचार करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। लेखक अपने वैयक्तिक भावों का चित्रण करता है, जिसमें उसे पूर्ण स्वच्छन्दता होती है। निबन्ध का (Subjective) होना आवश्यक होता है। निबन्ध के लिए सुगठित शैली, स्पष्ट विचार-प्रवाह, गम्भीर बौद्धिक चेतना एवं विषय वस्तु का पूर्ण ज्ञान आवश्यक होता है।

निबन्ध के उपकरण

यों मोटे रूप में कहा जा सकता है कि निबन्ध में किसी विषय को लेखक अपनी धारणानुसार प्रतिपादन करता है, वह पूर्णतया स्वच्छन्द रहता है और उसे किसी नियमों का पालन नहीं करना पड़ता पर श्रेष्ठ निबन्धों के सूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त निबन्ध के कुछ ऐसे प्रमुख उपकरण हैं जो सामान्य रूप से सभी निबन्धों में पाए जाते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इन उपकरणों के उल्लेख का यह अभिप्राय नहीं है कि सभी निबन्धकार आवश्यक एवं अनिवार्य रूप से इन उपकरणों का समावेश अपने निबन्धों में करें। सत्य स्थिति तो यह है कि ये उपकरण स्वयमेव उनके निबन्धों में आ जाते हैं। निबन्ध के प्रमुख उपकरण ये हैं—

१ भूमिका—इसमें विषय को प्रारम्भिक रूप से स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

---

things often essentially trivial and yet making them for the moment interesting by the charm of speakers manner."

—डब्ल्यू० एल० फैलप्स

1 "The essay proper or literary essay is not merely short analysis of a subject, nor a mere epitone, but rather a picture of wandering minds affected for the moment by the subject with which he is dealing, Its most distinctive feature is the egoistical element."

—हूँसवर्थ एवं हिल

२ विश्लेषण—इसमें पूरे विषय का अनेक तर्कों एवं उदाहरणों से विश्लेषण किया जाता है जिससे कि मूल विषय स्पष्ट हो सके।

३ उपसंहार—इसमें पूरे विचार विश्लेषण का निष्कर्ष लेखक संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

४ भाषाशैली—भाषा शैली निबन्ध के प्रमुख तत्व होते हैं। शैली की स्पष्टता न होने से निबन्ध का वास्तविक स्वरूप कभी स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी प्रकार भाषा की दुरूहता, क्लिष्टता एवं संस्कृत गर्भित होना भी निबन्ध के प्राण को समाप्त कर देता है। अच्छे निबन्धों के लिए सरस एवं सुबोध भाषा-शैली आवश्यक होती है।

निबन्ध की कोटियाँ

निबन्ध का क्षेत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत है कि उसकी कोटियाँ बनाना साधारण बात नहीं है। निबन्धों में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है लेखकीय व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है, इसलिए व्यक्तित्व की विभिन्नता के अनुरूप उसकी उतनी ही कोटियाँ भी हो सकती हैं। मोटे रूप से निबन्धों की निम्नलिखित श्रेणियां बनाई जा सकती हैं—

१ वर्णन प्रधान निबन्ध—इसमें पदार्थों, घटनाओं एवं प्राकृतिक वर्णनों का वर्णन किया जाता है। इसका सम्बन्ध देश से होता है तथा इसमें कल्पनाशीलता की प्रधानता रहती है। महादेवी वर्मा कृत 'स्मृति की रेखाएँ' के अनेक निबन्ध इसी श्रेणी के हैं।

२ विवरण प्रधान निबन्ध—इसमें प्रधान रूप से लेखक की विवरणात्मक प्रवृत्ति उभरती है। इसमें गतिशील काल, वस्तुओं एवं स्थितियों, शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा आदि का रोचक वर्णन किया जाता है। प्रायः ऐसे निबन्धों को कथात्मक निबन्ध भी कहा जाता है। इस प्रकार के निबन्धों की शैली व्यास शैली होती है। सियाराम शरण गुप्त की 'हिमालय की झलक' तथा राहुल सांकृत्यायन कृत 'घुमक्कड़ों का समागम' इसी प्रकार के निबन्ध हैं।

३ विचार-प्रधान निबन्ध—यह निबन्धों का बौद्धिक रूप है। इसमें धर्म, साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान आदि विषयों के गम्भीर विश्लेषणात्मक विवेचन किए जाते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक का गहन मनन एवं चिन्तन, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं विशद ज्ञान स्पष्टतया झलकता है। इसमें विचारों

की प्रधानता और पर्याप्त गम्भीरता रहती है। इसमें प्रमुख रूप से समास शैली का प्रयोग किया जाता है। डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के 'साहित्य चिन्तन' में संगृहीत अधिकांश निबन्ध इसी कोटि के हैं। डॉ० वार्ष्णेय के अतिरिक्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं नन्ददुलारे वाजपेयी के भी अनेक निबन्ध इसी श्रेणी के हैं।

४ भाव प्रधान निबन्ध—इस कोटि के निबन्ध सीधे हृदय से सम्बन्धित होते हैं। हृदय की संवेदनशील परिस्थितियों के मार्मिक चित्रण होने के नाते इसमें भावनात्मकता की प्रधानता हो जाती है। इसमें काव्यात्मक प्रभाव लक्षित होता है। इन निबन्धों में अत्यधिक भावुकता के कारण विचित्र सा प्रवाह, आकर्षक तड़प, सजीवता और सौन्दर्य विधान के साथ हार्दिक रसात्मकता अभिव्यक्त होती है, जिससे हृदयग्राहिता शक्ति की अभिवृद्धि होती है। इसीलिए इन्हें काव्यात्मक निबन्ध भी कह दिया जाता है। इसमें दो प्रकार की शैली-विक्षेप शैली तथा धारा शैली का प्रयोग होता है। अध्यापक पूर्णसिंह तथा डॉ० रघुवीर सिंह के अधिकांश निबन्ध इसी कोटि के हैं।

५ आलोचनात्मक निबन्ध—इस कोटि के निबन्धों में किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना की जाती है। इसमें भी प्रमुख रूप से समास शैली का प्रयोग होता है।

आधुनिक काल में हिन्दी के प्रमुख निबन्धकारों में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डा० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, इलाचन्द्र जोशी आदि हैं।

७

वर्तमान श्रेष्ठ आलोचक

डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का जन्म अलीगढ़ में अगस्त १९१५ में हुआ। अलीगढ़ में ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० (१९३७ में) किया। वहीं से डी० फिल्० (१९४०) और डी० लिट्० (१९४६) करने के उपरान्त आप वहीं अध्यापन कार्य में संलग्न हैं। आप प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० और हिन्दी के सर्वप्रथम सम्भवत: तृतीय डी० लिट्० हैं। विद्यार्थी जीवन से ही आपकी हिन्दी में बड़ी रुचि थी। इंटर में ही आपने कविवर मैथिलीशरण गुप्त की सारी रचनाएँ पढ़ ली थीं और अपने धर्मसमाज कॉलेज में गुप्त जी पर अधिकारी व्यक्ति समझे जाते थे। विश्वविद्यालय में आते ही और उसके बाद भी आपके अनेक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। इन लेखों में आपके गंम्भीर अध्ययन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सुस्पष्ट अभिव्यंजना शैली एवं प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। आपने शीघ्र ही हिन्दी आलोचना जगत में अपना उल्लेखनीय स्थान बना लिया। आज आप हिन्दी के कुछ इने गिने ऐसे आलोचकों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने आलोचना का उद्देश्य किसी कैम्प या वर्ग के सीमित परिवेश में करने का नहीं, वरन् मानव मूल्य की प्रतिष्ठापना और साहित्य के उदात्त तत्वों के अन्वेषण से साहित्य के वास्तविक दिशा में उन्मुख करना स्वीकार किया है। अब तक आपकी निम्नलिखित प्रमुख रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं।

१—फ़ोर्ट विलियम कॉलिज (१९४७)
२—आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४८)
३—भारतेन्दु की विचारधारा (१९४८)
४—साहित्य चिंतन (१९४९)
५—भारतीय वाङ्मय (२) (१९५१)

६—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१९५१)
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९५२)
८—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९५२),
९—हिन्दुई साहित्य का इतिहास (मूल फ्रेंच से अनुवाद: १९५३)
१०—भारत दुर्दशा (मौलिक आलोचनात्मक भूमिका सहित सम्पादन, १९५३)
११—श्री चन्द्रावली नाटिका (मौलिक आलोचनात्मक भूमिका सहित सम्पादन, १९५३)
१२—निबन्ध नवनीत (भूमिका सहित संग्रह, १९५७)
१३—प्राचीन हिन्दी पत्रसंग्रह (गवेषणापूर्ण भूमिका सहित सम्पादन: १९५९)
१४—भारतीय आर्य भाषा (मूल फ्रेंच से अनुवाद १९६३)
१५—उन्नीसवीं शताब्दी (१९६३)

इसके अतिरिक्त पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित आपके स्फुट लेखों की संख्या भी बहुत अधिक है। 'हिन्दी विश्व-कोश', 'हिन्दी साहित्य कोश' आदि में भी आपके आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए हैं। आजकल आप पाश्चात्य आलोचना शास्त्र पर ग्रन्थ लिख रहे हैं।

'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४८) में प्रथम बार आधुनिक साहित्य सम्बन्धी सामग्री का गम्भीर एवं मौलिक विवेचन तो प्राप्त होता ही है, इसके साथ ही वैज्ञानिक पद्धति पर किए गए शोधकार्य के परिणाम स्वरूप ऐसी नई सामग्री का परिचय हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुआ जिनसे वह अभी तक पूर्णतया अनभिज्ञ था। आधुनिक साहित्य की विस्तृत सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ निबन्ध गद्य, काव्य उपन्यास, और नाटक आदि साहित्यिक विधाओं के वैज्ञानिक विवेचन के साथ डॉ॰ वार्ष्णेय ने हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया और शीघ्र ही उन्हें आधुनिक साहित्य का एक मात्र अधिकारी विद्वान स्वीकार कर लिया गया।

'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९५२) में १७५७ से १८५७ ई० तक के हिन्दी साहित्य का प्रथम विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन है। यह काल सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टियों से हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण काल है। इसके पूर्व लिखे गए इतिहासों में इस काल की पूर्ण उपेक्षा की गई थी और उसका उल्लेख नहीं

किया जाता था। इसके कारण स्पष्ट थे : इस काल की सामग्री के शोध के लिए पर्याप्त परिश्रम, सूझ-बूझ एवं धैर्य की आवश्यकता थी। यहाँ तक कि स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इसका चलते-चलते उल्लेख भर कर दिया है। इस काल में डॉ० वार्ष्णेय के अनुसार काव्य ही साहित्य का प्रधान अंग था। यह काव्य परंपरा विहित था और उसमें नवीन भावों, विचारों और अभिव्यंजना प्रणाली का अभाव था। परिवर्तित परिस्थितियों के कारण गद्य-क्षेत्र में ही नवीनता के दर्शन होते हैं। हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते समय कुछ ऐसी अनिवार्य समस्याएँ हैं जिनकी ओर प्रायः इतिहासकार उपेक्षा की दृष्टि रखते हैं। इनमें सर्वप्रमुख समस्या है कि जब दो विभिन्न जातियाँ आपस में एक दूसरे के संपर्क में आती हैं तो वे किस प्रकार एक दूसरे के जीवन को—अंततः साहित्य को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार के सांस्कृतिक विकास या पतन में किसी देश या प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति का बड़ा हाथ रहता है। भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन इतिहास और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस ग्रंथ में इस प्रकार का अध्ययन प्रथम बार किया गया है। भारतीय इतिहास और संस्कृति का प्रधान केन्द्र होने के कारण हिन्दी प्रदेश का भौगोलिक तथा तज्जनित समस्याओं के अध्ययन का महत्व और भी बढ़ जाता है। प्राचीन युग का अन्त और नवीन युग का प्रारम्भ डॉ० वार्ष्णेय ने १७५७ से माना है। वास्तव में १८५७ के बाद से लेकर आज तक के साहित्य में हमें जिस नवीनता के दर्शन होते हैं वह दो संस्कृतियों—एक प्राचीन और विचित्र और दूसरी नवीन और शक्तिशाली की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया का सूत्रपात १७५७ से १८५७ के मध्य में ही हुआ। इस काल में वीर और भक्तिकाव्य, रामकाव्य, संत काव्य, रीति और शृंगार काव्य तथा नीति काव्य के रूप प्राप्त होते हैं। काव्य की प्रधानता होने के बावजूद भी गद्य साहित्य का पूर्ण अभाव नहीं था। गद्य की तीन परंपराएँ ब्रज भाषा, राजस्थानी और खड़ी बोली प्राप्त होती हैं। पत्रकला का जन्म भी इसी काल में हुआ। वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस युग में अपना पुराना रास्ता छोड़ गद्य का आश्रय ग्रहण कर नए रास्ते की ओर कदम बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। भारतेन्दु युग तथा आज का साहित्य इसका साक्षी है।

"फोर्ट विलियम कॉलेज" (संवत् २००४ वि०) में प्रथम बार ऐसी

सामग्री को एक स्थान पर वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित किया गया है, जिससे खड़ी बोली, हिन्दी भाषा और साहित्य विषयक उनके दृष्टिकोण पर नवीन प्रकाश पड़ता है। इस शोधपूर्ण ग्रन्थ में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना, उसके सम्बन्ध में कम्पनी अधिकारियों की नीति और कॉलेज का कार्य जॉन बोर्थविक गिलक्राइस्ट का कॉलेज में कार्यों के योगदान लल्लूलाल की रचनाएँ, जेम्स मोअट का योगदान और सदल मिश्र की रचनाएँ, जॉन विलियम टेलर का कार्य, गंगा प्रसाद शुक्ल की नियुक्ति, विलियम प्राइस का कार्य तथा कॉलेज के अन्तिम दिनों की परिस्थिति का प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। हिन्दी में इन विषयों की जानकारी प्रथम बार इसी ग्रन्थ से प्राप्त होती है। केवल प्रचलित मान्यताओं के आधार पर ही तथ्यों का प्रतिपादन न कर लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाओं के आधार पर आधुनिक खड़ी बोली गद्य के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। फोर्ट विलियम कॉलेज में रचित ग्रन्थों में से हिन्दी भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रन्थों का महत्व है। हिन्दुस्तानी के अरबी फारसी रूप को प्रधानता देने पर भी गिलक्राइस्ट कॉलेज के अन्य पदाधिकारी हिन्दी की पूर्ण अवहेलना न कर सके थे। हिन्दवी के आधार पर ही हिन्दुस्तानी या उर्दू का प्रासाद खड़ा हुआ था। गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लल्लूलाल और सदल मिश्र द्वारा प्रदत्त गद्य शैली के लगभग उन्नीस वर्ष उपरान्त भी विलियम प्राइस उसका कोई विकास उपस्थित नहीं कर सके थे। वे लल्लूलाल के पिछले ग्रन्थों पर ही निर्भर रहे। इस समय तक कंपनी का हिन्दी जनता के साथ पूर्ण रूप से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। इसलिए शासन व्यवस्था की दृष्टि से उन्हें हिन्दवी (हिन्दी) को स्थान देना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्राइस के बाद कॉलेज के अंतिम दिन थे। लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाओं के नाते हिन्दी साहित्य के इतिहास में फोर्ट विलियम कॉलेज का उल्लेख करना तो आवश्यक है किन्तु हिन्दी भाषा और गद्य साहित्य के विकास या उन्हें एक कदम और आगे बढ़ाने की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है। कॉलेज से 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू गद्य को प्रोत्साहन मिला न कि हिन्दी गद्य को। जो कार्य कैरे ने बंगला के लिए किया वह कार्य किसी ने हिन्दी के लिए न किया। हाँ, कोष, व्याकरण, टाइप, विराम चिन्ह आदि आधुनिक विषयों के सूत्रपात की दृष्टि से कॉलेज आधुनिक भारतीय भाषाओं के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के यश को गतिशील करने वाला उनका यशस्वी ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। वैसे साहित्य के लिखे गए इतिहासों का हिन्दी में अभाव नहीं है। पर साहित्य इतिहास के लिए जिस ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति एवं आलोचनात्मक प्रतिभा की आवश्यकता होती है उस दृष्टि से डॉ० वार्ष्णेय का इतिहास अपने ढंग का एक मात्र और अद्वितीय इतिहास ग्रन्थ है। इसकी श्रेष्ठता और लोक प्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पिछले ७ वर्षों में इसके छः संस्करण हाथों हाथ बिक चुके हैं। इसमें हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति, साहित्य और भाषा की उत्पत्ति, हिन्दी भाषा और लिपि, अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध, हिन्दी साहित्य की सामग्री और काल विभाजन, आदि काल, पूर्व मध्य काल या भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल या रीति और शृंगार काल, आधुनिक काल तथा आधुनिक साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विशद, मौलिक एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' डॉ० वार्ष्णेय की अन्य समीक्षा कृति है। इस पर उत्तर प्रदेश शासन द्वारा एक हज़ार रुपए का पुरस्कार भी प्रदान हो चुका है। साहित्य के विद्यार्थियों एवं विद्वानों ने इस कृति का पर्याप्त स्वागत किया है। इसमें पहले भारतेन्दु युगीन जीवन की सामान्य परिस्थितियों का विशद विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् उनकी रचनाओं की व्याख्या प्रस्तुत की गई है तथा अगले अध्याय में उस पर विस्तार से वैज्ञानिक समीक्षा है। अंतिम अध्याय में भारतेन्दु की रचनाओं के आधार पर उनकी विचार-धारा का नितान्त मौलिक एवं शोधपूर्ण विवेचन किया गया है। भारतेन्दु की विचारधारा का इतना सुन्दर एवं प्रामाणिक आकलन हिन्दी साहित्य में कहीं अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। परिशिष्ट में अन्तःसाक्ष्य के आधार पर जीवन वृत्तान्तीय आलोचना शैली में भारतेन्दु के जीवन की भी व्याख्या की गई है एवं उन परिस्थितियों एवं वातावरण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है जिसमें भारतेन्दु के अन्दर साहित्य प्रेम जाग्रत हुआ था और रचना प्रक्रिया में संलग्न हुए थे। एक दम अन्त में भाषा, भाव प्रवृत्ति एवं शैली आदि की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का संग्रह किया गया है।

'साहित्य चिंतन' (१९४९) में विविध विषय संबंधी लेखों का संग्रह है जिनमें से कुछ लेख 'हिन्दुस्तानी' और 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। कुछ पूर्णतया अप्रकाशित रचनाएँ हैं। अधिकांश

लेखों का सम्बन्ध उन्नीसवीं शताब्दी से है। ईस्ट इंडिया कंपनी की भाषा नीति, गिलक्राइस्ट और हिन्दी, विलियम प्राइस और हिन्दी, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग, सैयद इंशा उल्लाह खां, सदल मिश्र, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में हिन्दी बाइबिल, भारतेन्दु का जीवन (अप्रकाशित के आधार पर), भारतेन्दु कालीन हिन्दी कविता, हिन्दी कविता के पिछले सौ वर्ष, हिन्दी गद्य का विकास, साहित्य के दो पक्ष, कला और साहित्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग आदि लेखों के कुछ ऐसे विषय हैं जिनका इस पुस्तक में संग्रह किया गया है। स्पष्ट है, ये सभी लेख एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य को स्पष्ट करते हैं और पाठकों को उस काल की विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों, विधाओं, साहित्यिक व्यक्तियों से परिचित होने का अवसर प्रदान करते हैं। डॉ० वार्ष्णेय ने अपने शिष्ट, संयत एवं वैज्ञानिक शैली में इन नवीन विषयों पर मौलिक ढंग से प्रकाश डाला है। इन विषयों का ऐसा तात्विक विवेचन साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

'निबन्ध नवनीत' (१९५७) के प्रकाशकीय में कहा गया है कि वार्ष्णेय द्वारा सम्पादित 'निबन्ध नवनीत' हिन्दी के अन्य प्रकाशित निबन्ध संग्रहों से भिन्न और अपने ढंग का पहला संग्रह है। सम्पादक के दृष्टिकोण में नवीनता और ताजगी है। इसमें केवल सच्चे साहित्यिक निबन्धों को स्थान मिला है। ऐसे निबन्धों को जिनमें रागात्मकता, सहज स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता है। साथ ही इसमें हिन्दी गद्य के क्रमिक ऐतिहासिक विकास का सुन्दर परिचय भी प्राप्त होता है। इसमें 'निबन्ध' शब्द का मूल अर्थ ग्रहण कर निबन्धों का संग्रह किया गया न कि व्यावहारिक अर्थ के संदर्भ में इसीलिए इसमें केवल बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त, माधव मिश्र, एक बंग महिला, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्द अखौरी, मन्नन द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह, केशवप्रसाद सिंह, गोविन्द नारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, माखन लाल चतुर्वेदी, धीरेन्द्र वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल के निबन्ध स्थान पा सके हैं। इस दृष्टि से देखा जाय और हिन्दी में निबन्ध साहित्य के वास्तविक स्वरूप के विकास क्रम को परिलक्षित किया जाए, तो सभी प्रतिनिधि निबन्धकारों के एक या श्रेष्ठ निबन्धों का संकलन इस पुस्तक में सफलता से हो पाया है।

भारतेन्दु कृत 'भारत दुर्दशा' (१९५३) में डॉ० वार्ष्णेय की सम्पादित कृति में विस्तृत भूमिका दी गई है, जिसमें भारतवर्ष में नाट्यकला, हिन्दी नाट्यसाहित्य का इतिहास और भारतेन्दु की नाट्य रचनाएं, भारतेन्दु की संक्षिप्त जीवनी का पांडित्यपूर्ण विवेचन तथा भारत दुर्दशा की समीक्षा की गई है। 'भारतीय वाङ्मय' (१९५१) में संक्षेप में हिन्दी साहित्य के सभी कालों पर विचार किया गया है। 'प्राचीन हिन्दी पत्र संग्रह' (१९५९) में उन पत्रों का संग्रह किया गया है, जो उस काल से सम्बन्धित हैं, जब भारतीय राजनीति अनियमित और अराजकतापूर्ण हो गयी थी और तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठाकर एक विदेशी सत्ता अपने को स्थापित करने में संलग्न थी। इसमें पत्रों में उल्लखित स्थानों से संबंधित मानचित्रभी दिए गए हैं और पत्रों के अंग्रेजी में संक्षिप्त रूपान्तर भी दिए गए हैं। इन पत्रों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग व्यापक रीति से होने लगा था, यद्यपि उसने अभी साहित्यिक आदर्श रूप अवश्य ग्रहण नहीं किया था। अदालतों तथा इकरारनामों की भाषा में प्रायः फ़ारसी शब्दों का मिश्रण अधिक शब्दों के साथ होता था क्योंकि इन क्षेत्रों अब तक फारसी चल रही थी। निजी पत्रों में खड़ी बोली पर लेखक की अपनी बोली का प्रभाव मिश्रित हो गया है। इन पत्रों से उन्नीसवीं शताब्दी की देशी पत्र-लेखन-शैली के अतिरिक्त खड़ी-बोली की समन्वयात्मक शक्ति, मुहावरेदानी और तद्भव प्रधानता का परिचय प्राप्त होता है। भारतेन्दु कृत 'श्री चन्द्रावली नाटिका' का सम्पादन भी डॉ० वार्ष्णेय ने विद्वतापूर्वक किया है। इसमें नाट्य कला की शास्त्रीय पद्धति पर नाटिका की समालोचना भी प्रस्तुत की गई है। गार्साँ द तासी कृत 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' नामक फ्रांसीसी भाषा की पुस्तक का अनुवाद डॉ० वार्ष्णेय ने हिन्दी में 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' के नाम से प्रस्तुत किया है, जो १९५३ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। फ्रेंच भाषा से ही एक और उपयोगी पुस्तक ज्यूल ब्लॉख् कृत 'ल आँदो ऐरियाँ' का हिन्दी में डॉ० वार्ष्णेय ने 'भारतीय आर्य भाषा' के नाम से अनुवाद किया है, जो १९६२ में प्रकाशित हुआ है।

'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ' में डॉ० वार्ष्णेय ने नलिन विलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, ठाकुर प्रसाद सिंह, बच्चन सिंह, विजय शंकर मल्ल तथा नन्ददुलारे वाजपेयी के निबन्धों का संग्रह किया है और हिन्दी गद्य की प्रवृत्ति पर एक पांडित्यपूर्ण भूमिका लिखी है। 'उन्नीसवीं शताब्दी' (१९६३) में

उन्नीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं राजनीतिक परिस्थितियों के सम्यक विवेचन के साथ ही तत्कालीन साहित्यिक विधाओं, लेखकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का शोधपूर्ण प्रणाली के माध्यम से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी की विभिन्न साहित्यिक समस्याओं तथा आधुनिक काल के अन्य विषयों पर डॉ० वार्ष्णेय के अनेक विवेचनापूर्ण निबन्ध भारत की लब्ध प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, जिनकी लम्बी सूची है और स्थानाभाव के कारण यहाँ देना उसे संभव नहीं है।

इन रचनाओं से डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के गहन चिन्तन एवं बहु-विधीय व्यक्तित्व का पूर्ण आभास प्राप्त होता है। हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, फ्रेन्च भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार है। विश्व साहित्य के गहन अध्ययन एवं विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित करके डॉ० वार्ष्णेय ने अपनी चेतना को सुसम्पन्न किया है। उनका जीवन आडम्बरहीन और अकृत्रिम होते हुए भी उनका व्यक्तित्व अनूठा है। जिन्होंने उनसे एक बार भी मिलने और बात करने का सुअवसर पाया है वे उनकी बहुमुखी प्रतिभा से चकित रह गये हैं। उनके इस आकर्षक व्यक्तित्व का उनकी आलोचना पद्धति पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। जो आकर्षक होते हुए भी आडम्बर पूर्ण और कृत्रिम नहीं है। तर्क की कसौटी पर वह खरी उतरती है। वे आलोचना का उद्देश्य साहित्य में सौन्दर्य के अस्तित्व का अन्वेषण मानते हैं क्योंकि उसके अभाव में साहित्य में बिखरी हुई अनन्त विभूतियाँ सामने नहीं आतीं।[1] वार्ष्णेय ने इस आदर्श का अपनी आलोचनाओं में सतर्कता के साथ पालन किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में बिखरी हुई अनन्त विभूतियों एवं सौन्दर्य को उन्होंने अपनी आलोचना के द्वारा स्पष्ट कर हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है। उनकी आलोचना पद्धति में विभिन्न आलोचना प्रणालियों का समावेश हुआ है, जिसमें ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति जीवन वृत्तान्तीय समीक्षा पद्धति, तुलनात्मक समीक्षा पद्धति, वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति, काव्यात्मक समीक्षा पद्धति, और निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति आदि प्रमुख हैं। यहाँ डॉ० वार्ष्णेय के आलोचना सम्बन्धी विचारों पर ध्यान देना उचित होगा।

---

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४१) इलाहाबाद, पृष्ठ १७८

डॉ० वार्ष्णेय ने निबन्ध की परिभाषा देते हुए बताया है कि निबन्ध प्रयास मात्र होता है। उसकी शैली और ध्वनि में सरलता और स्वच्छन्दता रहती है और इस पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है।[1] आज वास्तव में निबन्धों के क्षेत्र में बड़ा अनाचार फैला हुआ है। जिसे हम कहानी, कविता, उपन्यास या नाटक नहीं कह पाते, उसे भ्रम से निबन्ध कह देते हैं। चाहे वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'बलिया का लेक्चर' हो या प्रेमचन्द द्वारा दिए गए भाषण हों या रामचन्द्र शुक्ल कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' और 'गोस्वामी तुलसीदास' हों। हम सभी को निबन्धों की संज्ञा से अभिहित कर देते हैं। वास्तव में यह अव्यवस्था है। निबन्ध में विषय नहीं लेखक का व्यक्तित्व प्रधानता प्राप्त करता है। निबन्धों में मत प्रतिपादन का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। निबन्ध रचना का प्रधान उद्देश्य लेखक के व्यक्तित्व को प्रकट करना होता है। इस प्रकार डॉ० वार्ष्णेय की यह परिभाषा निबन्ध के प्रबन्ध में फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण करती है। निबन्धों में सरलता और स्वच्छन्दता का होना तथा लेखकीय व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होना अनिवार्य होता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि डॉ० वार्ष्णेय आलोचना का उद्देश्य साहित्य में सौन्दर्य के अस्तित्व का अन्वेषण मानते हैं। समालोचक के कर्तव्य एवं दायित्व का निर्देश करते हुए वे कहते हैं कि समालोचक लेखक के दृष्टिकोण, मत आदि की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि पृष्ठभूमि के साथ उदारता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से गवेषणा करता है।[2] यहां 'उदारता' 'सहानुभूतिपूर्ण' और 'गवेषणा' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। आलोचक हृदय में उदारता और सहानुभूति की भावना का होना आवश्यक होता है। उसका उद्देश्य कटु प्रहार करना अथवा मात्र गाली-गलौज करना नहीं होता। वह गुण-दोषों का विवेचन सहृदयता से करता है। गवेषणा का अभिप्राय सौन्दर्यान्वेषण से है जो किसी भी रचना में अन्तर्निहित रहता है और जिसे स्पष्ट करना आलोचक का कर्तव्य होता है। आलोचना धर्म की ओर निर्देश करते हुए उनका मत है कि 'वैसे तो प्रत्येक आलोचक का अपना-अपना दृष्टिकोण

---

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४१) इलाहाबाद, पृष्ठ १५२

२ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (१९६१) इलाहाबाद, पृष्ठ २७७

रहेगा और रहना चाहिए तब भी आवश्यकता इस बात की है कि प्रयोगों और अवकचरी प्रणालियों की स्थिति से निकल कर हिन्दी आलोचना व्यापक वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हो और जो हमारी नवीन सामाजिक एवं साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाली हो।"[1] आलोचना का यह दृष्टिकोण आदर्शवादी है। वास्तव में आलोचना का उद्देश्य अनाचार की स्थिति उत्पन्न करना नहीं वरन् निर्माण और दिशानिर्देशन का होता है। हिन्दी आलोचना के उसी पथ पर अग्रसर होने में साहित्य विकास की सभी सम्भावनाएं सन्निहित हैं।

उपन्यास को डॉ० वार्ष्णेय ने मानवजीवन को समग्र रूप में देखने का सर्वप्रथम प्रयास माना है। कहानी के सम्बन्ध में भी डॉ० वार्ष्णेय के मत में अधिक स्पष्टता है। उनके विचार से कहानी में केवल एक कथा होती है, प्रासंगिक कथाएँ नहीं होतीं। इसमें जीवन का व्यापक वर्णन नहीं, वरन् जीवन के किसी अंग विशेष पर प्रभाव डाला जाता है। यह दृश्य चित्रण (Land scape painting) न होकर एक स्नैप शॉट मात्र है। कहानीकार जीवन के किसी एक कोने में झांकता है। पात्र के चरित्र का चित्रण करते समय वह सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण नहीं करता, वरन् चरित्र के किसी एक विशेष अंग का चित्रण करता है। बहुत सी कहानियों में तो चरित्र चित्रण होता ही नहीं। शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी, निबन्ध, एकांकी आदि के समीप है। इसके अतिरिक्त कहानीकार उत्सुकता, बहुत कम पात्र, बहुत कम चरित्र, बहुत कम घटनाओं एवं प्रसंगों द्वारा कथानक, चरित्र, प्रभाव, वातावरण आदि की सृष्टि करता है। व्यर्थ की बातों या कथोपकथन का इसमें कोई स्थान नहीं होता। वास्तव में कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौड़ना है।[2] कहानी की यह पूर्ण परिभाषा है और कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होती है। कहानी को उपन्यास का ही एक लघु रूप समझना चाहिए। उपन्यासों में मानव-जीवन की समग्रता का वर्णन होता है, कहानी में जीवन के एक पक्ष का। कहानियों में पर्याप्त कौशल और कम समय में तीव्रानुभूति उत्पन्न करने की क्षमता की आवश्यकता होती है।

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां (बम्बई) पृष्ठ १२

२ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय: हिन्दी साहित्य का इतिहास (इलाहाबाद) पृष्ठ २४९

नाटकों की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं। डॉ० वार्ष्णेय ने घटना-विस्तार, चरित्र चित्रण, प्रभाव, समय और स्थान की दृष्टि से नाटकों को अनेक बन्धनों में जकड़ा हुआ बताया है। हिन्दी में नाटक साहित्य के उच्च-कोटि का विकास न होने का कारण बताते हुए डॉ० वार्ष्णेय ने बताया है, 'हिन्दी में एक साधु अभिनयशाला के न होने से पाठ्य साहित्य के विकास की गति एक विशेष दिशा की ओर ही मुड़ रही है, अर्थात् ऐसे नाटकों का निर्माण होता रहा है जो साहित्यिक आनन्द की दृष्टि से तो सुन्दर रचनाएँ हैं, किन्तु रंगमंच की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। मेरा विचार तो यह है कि आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य पर विचार करते समय केवल रंगमंच पर ही ध्यान नहीं रखना चाहिए।' रंगमंच की उपादेयता की दृष्टि से नाटकों की रचना होना आवश्यक होती है। स्वस्थ नाटक साहित्य का गौरव उसी में अन्तर्निहित रहता है। हिन्दी में इसके न होने का सर्वप्रमुख कारण रंगमंचों का अभाव ही है।

जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, डॉ० वार्ष्णेय का मत है, 'कविता पाठकों का ध्यान भावों की ओर आकर्षित करती है। कविता में वह भावों में रम जाता है। कविता का आनन्द उठाने के लिए मानसिक परिष्कार की आवश्यकता होती है।'[1] उनके विचार से भारतेन्दु युग में नवीन कविता का जन्म मध्य वर्ग के उदय के कारण ही हुआ। नायक-नायिका भेद की आलोचना करने वालों से डॉ० वार्ष्णेय सहमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं, 'शृंगारी कवियों का नायक-नायिका भेद बड़े विवाद का विषय है।'[2] यह पहले कहा जा चुका है कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उन्होंने पार्थिव जीवन का वर्णन किया है। नायक-नायिका भेद मूल स्त्री पुरुष के वास्तविक पारस्परिक सम्बन्ध का विशद विवेचन है। जो लोग उससे घृणा प्रकट करते हैं वे अपने को मानव-प्रकृति से अभिज्ञ सिद्ध करते हैं। संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका का वर्णन था ही। वह काव्य के शृंगार रस के अन्तर्गत था। शृंगारी कवियों ने उसे सहर्ष अपनाया।[3] उन्हें रीतिकालीन साहित्य में कवि की बन्धन हीन आत्मा

१ डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय: हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ (बम्बई) पृष्ठ ८
२ डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय: हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५१
३ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय: आधुनिक हिन्दी साहित्य पृष्ठ २४३

की आत्मकला नहीं परिलक्षित होती। जिन विद्वानों ने कवियों की रचनाओं में आत्माभिव्यक्ति के दर्शन किये हैं, डॉ० वार्ष्णेय उनसे सहमत नहीं हैं। वास्तव में रीति निरूपक कविताओं का शुद्ध शृंगार है जिसे मुगल कालीन भोग-विलासपूर्ण दरबारी जीवन और उन दरबारों के आधीन और उनका अनुकरण करने वाले हिन्दू राज दरबारों से आश्रय तो अवश्य मिला, परन्तु जिसका जन्म भक्तिकाल के कठोर धार्मिक नियंत्रण के प्रतिवाद स्वरूप दबी हुई भावनाओं के निकास के लिए उपयुक्त साधन खोजने के प्रयास के फलस्वरूप हुआ।[१] कवि कर्म का निर्देश करते हुए डॉ० वार्ष्णेय का अभिमत है कि समझ में नहीं आता कि कलाकार या कवि किस प्रकार अपने को राजनीतिक अंकुश से चालित होने पर बाध्य कर सकता है। उसके अपने काल के राजनीतिक वाद-विवादों में पड़ने से, 'बुर्जुआ कल्चर' या 'प्रोलेतारियन कल्चर स्थापित करने के झंझट में पड़ने से, राज्य की किसी अस्थिर संगठित शक्ति के सामने सिर झुका कर चलने से अपने साहित्यिक मूल्य को नीचे गिरा देना होगा। अपने व्यक्तित्व का बलिदान देना होगा। ऐसा किये या हुए बिना रह नहीं सकता। किसी अनुचित अनुशासन या दबाव के सम्मुख नतमस्तक होने की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने में अपना बलिदान कर देना कहीं अधिक मानवोचित है। कवि को अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने देना चाहिए। उसका कर्तव्य समग्र मानव जाति की चिरंतनता को अपने अन्तर्लोक के प्रकाश से प्रकाशित करना है।[२] इस दृष्टि से आज हमें कोई भी सच्चा कवि नहीं मिलेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि डॉ० वार्ष्णेय की इस धारणा में कोई अत्युक्ति है, या वह तर्क संगत नहीं है। पर आज मतवादों एवं सिद्धान्त प्रचार के चक्कर में कवि अपना कर्म एवं दायित्व भूल गया है। जीवन के साथ अपना वास्तविक संबंध जोड़ने के बजाय रूस अथवा चीन की प्रशस्तियाँ गाना अधिक न्यायपूर्ण समझा जाता है। वस्तुतः डॉ० वार्ष्णेय किसी वाद विशेष के समर्थक नहीं हैं। उसके सीमित परिवेश से मुक्त वे स्वतन्त्र चिंतक एवं आलोचक हैं और अपने आलोचना संबंधी विचारों को उन्होंने स्वतंत्रता एवं निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया है।

छायावाद की परिभाषा डॉ० वार्ष्णेय ने इस प्रकार दी है, छायावाद में कवि विश्व के कण-कण में प्राणों की छाया देखता है और उसमें व्यक्ति-

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयः साहित्य चिंतन, पृष्ठ १२२-१२३
२ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयः साहित्य चिंतन, पृष्ठ १५२

वादी भावनाएँ प्रकट की जाती हैं। उसमें विषय नहीं, स्वयं कवि और उसका राग-विराग प्रधान हो जाता है। उसमें कवि का अन्तरंग जीवन होता है। व्यक्तिगत आशा-निराशा, सुख-दुःख कथा, वेदना आदि से उसकी कविता ओत-प्रोत रहती है। छायावाद में कवि की आत्मानुभूति मन की गति तक सीमित है और दार्शनिक पक्ष में जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मय तक।[1] इस प्रकार छायावाद मूलतः प्रेम सौन्दर्य का काव्य है। इसी प्रकार प्रगतिवादी कविता के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए डॉ० वार्ष्णेय ने बताया है कि अर्थ की दृष्टि से 'प्रगतिवाद' के दो अर्थ हैं—एक व्यापक और दूसरा सीमित या साम्प्रदायिक।...प्रगतिवाद ने छायावाद-रहस्यवाद की सूक्ष्मता और समाज विमुखता के प्रति विद्रोह किया। 'कला-कला के लिए' या 'स्वान्तः सुखाय' के सिद्धान्त में उसे आस्था नहीं है। अपने विशिष्ट अर्थ में प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक रूपान्तर है। प्रयोगवाद के सम्बन्ध में डॉ० वार्ष्णेय का मत है कि हिन्दी में छायावादी-रहस्यवादी कविता का ह्रास हो गया था और प्रगतिवादी कविता में रागात्मकता का अभाव और राजनीति की बू थी। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी काव्य नई भावनाएँ, नई शैली और नया रूप विधान लेकर सामने आया। काव्य शिल्प की दृष्टि से जिन कविताओं में अनेक नवीन बातों का समावेश हुआ, उन सभी नवीन कविताओं की प्रकृति को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा प्रदान की गई अन्यथा 'प्रयोगवाद' शब्द अपने में बेमानी है, क्योंकि 'प्रयोग' कभी 'वाद' नहीं हो सकता और प्रत्येक काव्य-प्रवृत्ति के ह्रास के बाद नवीन प्रयोग होते ही हैं। रीति परंपरा से युक्त कविता के बाद जब भारतेन्दु ने नवीन कविता का जन्म दिया तो प्रारम्भ में वह भी प्रयोग के रूप में थी और द्विवेदी युग की इति-वृत्तात्मक कविता के बाद छायावादी कविता भी शुरू में प्रयोग मात्र ही थी।[2] डॉ० वार्ष्णेय के इस मत से कदाचित नई प्रयोगवादी कविता के उन्नायकों एवं अनुयायियों को धक्का पहुँचे, क्योंकि उन्होंने तर्क और बुद्धि को तिलांजलि देकर धड़ल्ले से 'प्रयोगवाद' को भी एक वाद मान लिया है। ये नए कवि अपनी चेतना को एक व्यक्ति के हाथों बेंच चुके हैं जो इनसे मनोवांछित सब कुछ करा लेता है। ये सभी नए कवि अज्ञेय के अनुयायी हैं और जहाँ

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २९६
२ वही, पृष्ठ ३२१

तक में समझता हूँ, अभी 'प्रयोगवादी' कविता का अब नामकरण अज्ञेयवाद नाम से हो जाना चाहिए।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अनेक आलोचनात्मक प्रणालियों का उपयोग आवश्यकतानुसार किया है। अपने शोध-प्रबन्धों में उन्होंने ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के साथ-साथ अनुसन्धानात्मक और वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली अपनाई है। जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली के दर्शन 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' नामक पुस्तक में होते हैं। कहीं-कहीं उन्होंने मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली भी अपनाई है, 'Aesthetic' वह है जिसे हम लोकोत्तर आनन्द कहते हैं और जिसमें हम किसी वस्तु, रूप, रंग, ध्वनि आदि से उत्पन्न आनन्द का अनात्मभाव (impersonal) से उपभोग करते हैं। इस आनन्दमय अनुभूति का जन्म मनुष्य की अन्तश्चेतना के निगूढ़तम प्रदेश में होता है। कलानुभूति आनन्ददायक ही नहीं, दुःखावबोधक भी होती है। किसी दुःखपूर्ण घटना को आनन्दायक रूप में पाठकों के सम्मुख रखना लेखक की प्रतिभा का कार्य है।'[1] डॉ० वार्ष्णेय ने व्याख्यात्मक आलोचना का प्रयोग अपने "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' नामक पुस्तक में किया है जिसमें इतिहास, समाज, धर्म एवं सामान्य जीवन आदि को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दु और उनके साहित्य की आलोचना की गई है। डॉ० वार्ष्णेय ने तुलनात्मक आलोचना पद्धति का भी प्रयोग किया है जिसमें उन्होंने दो कवियों की प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अपने मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जयदेव, चंडीदास आदि ने राधिका का परकीया के रूप में वर्णन किया, किन्तु सूर ने स्वकीया के रूप में। उनका राधिका का प्रेम सम्पूर्ण और गम्भीर सागर की भाँति है। उसमें वह व्याकुलता, वेदना और पीड़ा नहीं है जो जयदेव, चंडीदास आदि में मिलती है।'[2] इस तुलना का आधार शास्त्रीय परंपराएं या मान्यताएं न मान कर डॉ० वार्ष्णेय ने स्वयं इन कवियों के भाव एवं कलापक्ष तथा अपनी सुरुचि को प्रश्रय दिया है। डॉ० वार्ष्णेय रसवादी भी हैं और संस्कृत की शास्त्रीय परंपराओं का उनका गहरा अध्ययन है। कहीं-कहीं अपनी आलोचना का स्वरूप उन्होंने शास्त्रीय

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४८) इलाहाबाद पृष्ठ २०४

२ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : साहित्य चिन्तन (बम्बई), पृष्ठ १३०

पद्धति पर आधारित किया है और लक्षण ग्रन्थों की मान्यताओं की सहायता से आलोचना की है। रस, अलंकार छन्द और पिंगल की कसौटी पर की गई उनकी आलोचनाएं प्रौढ़ एवं सुसंयत हैं। उनकी आलोचना में निर्णयात्मक आलोचना पद्धति के भी दर्शन होते हैं। डॉ० वार्ष्णेय की आलोचना शैली की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह सुस्पष्ट है और अनाधिकार रूप से उनमें पांडित्य प्रदर्शन की भावना परिलक्षित नहीं होती। अपनी बातों को सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत कर उसमें अनावश्यक रूप से दुरूहता अथवा रहस्यवादिता लाने के वे पक्षपाती नहीं हैं। उनकी आलोचना शैली की दूसरी विशेषता तर्क-संगत होने की है। उन्होंने जो भी निर्णय किया है, उसके पीछे पर्याप्त तर्क दिए हैं। भाव-विभोर होकर किसी रचना को श्रेष्ठ सिद्ध करने और दूसरी को कलात्मक विशेषताओं के बावजूद भी न्यून सिद्ध करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं है। डॉ० वार्ष्णेय की आलोचना शैली की एक अन्य विशेषता उसकी सहृदयता एवं उदारता है। अपनी आलोचनाओं में उन्होंने सदैव ही शिष्टता का ध्यान रखा है और कटुता एवं वक्रता का आश्रय लेकर साहित्य को कलंकित करने का प्रयत्न नहीं किया है। डॉ० वार्ष्णेय पिछले बीस वर्षों से भी अधिक समय से प्रयाग विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं, इसलिए उनकी आलोचना शैली में एक प्रोफेसर की तरह बातों को समझाते हुए चलने की प्रवृत्ति है। इससे उनकी शैली बड़ी सरल बन पड़ी है।

अन्त में कुछ बातें भाषा के सम्बन्ध में भी। डॉ० वार्ष्णेय हिन्दी के घोर पक्षपाती हैं और पक्के राष्ट्रवादी भी, पर उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग कर उसे क्लिष्ट बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। भाषा में मुहावरे-दानी, रवानगी, और जिन्दादिली के वे समर्थक हैं। पिछले दिनों मुझसे एक बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि भाषा में पांडित्य प्रदर्शन से मुझे बड़ी चिढ़ है। मुझे दुःख होता है यह देखकर कि आजकल आलोचक संस्कृत गर्भित क्लिष्ट भाषा का प्रयोग आलोचना के लिए आवश्यक मानने लगे हैं और यह एक फैशन के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। डॉ० वार्ष्णेय की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का आवश्यकतानुसार प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा सरल एवं प्रवाहमय है। एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा, 'उपन्यास लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी का वही स्थान है जो नाटककारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का। भारतेन्दु के नाटक की भाँति उनका इरादा भी 'उपन्यास' नामक ग्रन्थ लिखने का था, परन्तु शायद वे अपना इरादा पूरा न कर सके। वैष्णव

सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण 'त्रिवेणी' में उन्होंने आर्य समाज के विरुद्ध सनातन धर्म की महिमा का वर्णन किया है। साथ ही हिन्दुओं को ईसाई धर्म और इस्लाम के जाल से अपने को बचाए रखने तथा निजभाषा और साहित्य की सेवा करने का आदेश दिया है।[1] पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन्होंने कवित्त प्रधान भाषा नहीं लिखी है। जब उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में १९४१ में प्रवेश किया था तो उस समय प्रकाशित उनके आलोचनात्मक लेखों की भाषा प्रायः कवित्तपूर्ण ही रहा करती थी। एक उदाहरण इस प्रकार है, काव्य की धारा ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली का प्रयोग किया और कजली, लावनी आदि कुछ नये छन्दों का भी प्रयोग किया। साथ ही वह पुरातत्व के घने जंगल में केवल एक स्वच्छ और चमकती हुई जलधारा के समान है। परन्तु उसका वास्तविक महत्व, प्रचारात्मक, और सामयिक होते हुए भी, शैली की मनोहरता और आधुनिक विचारधारा की जन्मदात्री होने की दृष्टि से है। ज्ञान-संचय की प्रबल आकांक्षा लेकर और नीर-क्षीर विवेक ग्रहण कर हमारे कवियों ने देश की मानसिक प्रगति और उसके भावी प्रशस्त जीवन की आधारशिला का निर्माण किया।'[2] परन्तु डॉ० वार्ष्णेय ने शीघ्र ही इस कविता प्रधान भाषा का मोह छोड़कर सीधी-सादी सरल और अकृत्रिम भाषा अपनाने की ओर ध्यान दिया। फलस्वरूप उनकी आलोचना की प्रमुख विशेषताओं में उनकी भाषा का भी उल्लेखनीय स्थान है।

हिन्दी आलोचना के विकास में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संतुलित कटुतारहित और तर्कपूर्ण आलोचना शैली के वे आज एकमात्र ऐसे आलोचक हैं जो किसी वाद से सम्बन्धित नहीं हैं। डॉ० वार्ष्णेय स्वतन्त्र चिन्तक एवं आलोचक हैं। मतवादी न होने के कारण अपने विचारों को उन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया है। डॉ० वार्ष्णेय की प्रिय आलोचनात्मक शैली, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति है। ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के वे आज हिन्दी साहित्य में ऐसे अकेले समीक्षक हैं, जिन्होंने रस प्रणाली का अत्यन्त संतुलित एवं सुव्यवस्थित रूप उपस्थित किया है। उन्होंने साहित्य में जीवन की मूलभूत प्रेरक शक्तियों को देखने, उनका अन्वेषण करने एवं महत्ता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। वे मात्र कला-कला के लिए सिद्धान्त के समर्थक नहीं

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : साहित्य चिंतन, पृष्ठ १७१
२ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६१

हैं। उन्होंने साहित्य को केवल छंद, अलंकार और भाषा न मानकर उसे युग, मन और मानवी संस्कृति को समझने का सर्वोत्तम साधन समझते हैं। इसलिए डॉ० वार्ष्णेय की आलोचनात्मक दृष्टि एकांगी नहीं, पूर्ण है। वे साहित्य या कला का सम्बन्ध जीवन के साथ जोड़ कर उन तत्वों को महत्व प्रदान करते हैं जो मानव जीवन को ऊपर उठाकर उसमें नैतिक दृष्टिकोण का संचार करती है। डॉ० वार्ष्णेय रूढ़ियों के शिकार नहीं है। परंपराओं को उन्होंने वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वे प्रगतिशीलता के मार्ग में अवरोधक नहीं हैं। वे जीवन की गतिरुद्धता के नहीं, प्रगतिशीलता के समर्थक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वार्ष्णेय के शोध प्रबन्ध आधुनिक हिन्दी साहित्य को देखकर कहा था कि वे भविष्य में निश्चय ही एक महान् आलोचक बनेंगे। डॉ० वार्ष्णेय ने आज उसे पूर्णतया चरितार्थ कर दिखाया है। डॉ० श्याम सुन्दर दास ने भी उसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा था, 'मैंने आलतक इतने खोज पूर्ण सामग्री से सज्जित कोई ग्रन्थ नहीं देखा है।' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार आधुनिक साहित्य के सबसे गंभीर एवं संतुलित दृष्टि रखने वाले डॉ० वार्ष्णेय अकेले आलोचक हैं। डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा ने मुझे लिखे गये एक पत्र में लिखा था कि डॉ० वार्ष्णेय गहरे चिन्तक एवं महान् आलोचक हैं। इन मतों में पर्याप्त सार है। डॉ० वार्ष्णेय ने साहित्य में केवल कंकाल न देखकर उसमें हाड़-मांस स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। सफल अध्यापक होने एवं शोध कार्य की वैज्ञानिक पद्धति में गहन् रुचि लेने के कारण वैज्ञानिक, संक्षिप्त और गढ़ी हुई सुस्पष्ट शैली की विशेषता डॉ० वार्ष्णेय में अनूठी है। उनकी अभिव्यंजना शैली बड़ी सरल और क्रमबद्ध में आनेवाली है। एक आलोचक की यही सफलता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दरदास की आलोचना के क्षेत्र में प्रमुख देन उनका 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ है, जिसकी रचना उस समय हुई थी जब हिन्दी में आलोचना ग्रन्थों का पूर्ण अभाव था। साहित्यालोचन की मौलिकता के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं और ग्रन्थ को संकलन मात्र कहा गया है, पर इस दोषारोपण के पूर्व उन परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना उचित होगा। जिनमें 'साहित्यालोचन' की रचना हुई थी। इस पुस्तक के सम्बन्ध में बाबू जी का कहना है, 'एम० ए० की पाठ्यक्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए

जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे :भारतवर्ष का भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास तथा साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके, परन्तु आधार स्वरूप कोई मुख्य ग्रन्थ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली-भाँति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का आरम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया और संपूर्ण ग्रंथ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ता जाता था....इस प्रकार यह ग्रन्थ क्रमशः प्रस्तुत हो गया।'[1] इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो संकलन होते हुए भी विवेचन संबंधी मौलिकता के अधिकारी बाबू जी हैं। इसकी अधिकांश सामग्री उन्होंने विलियम हेनरी हडसन की प्रसिद्ध पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आव लिट्रेचर' से ग्रहण की है और विवेचन का आधार वर्सफोर्ड की पुस्तिका 'जजमेंट इन लिटरेचर' है। इस प्रकार यद्यपि यह तो निश्चित है कि बाबूजी ने सिद्धान्त और सामग्री तो दूसरों से ग्रहण की है, परन्तु उसे प्रस्तुत करने का ढंग उनका अपना है जो नितान्त मौलिक है। स्वयं उनके मतानुसार साहित्य में मौलिकता से अभिप्राय विचार और शैली दोनों की व्यक्तिगत विशेषता से है आलोचक को चाहिए कि उसकी रचनाओं के द्वारा परखें कि उनसे साहित्य के ज्ञान भण्डार की वृद्धि हुई है या नहीं ? यदि लेखक अपने विचार, अभिव्यक्ति अथवा शैली द्वारा यह कार्य कर सका है तो उसे मौलिक कहने में किसी प्रकार का आगा-पीछा नहीं करना चाहिए।[2] इस प्रकार साहित्यालोचन के प्रारम्भिक ग्रन्थ होने की दृष्टि से इस पुस्तक का पर्याप्त महत्व है और हिन्दी में समालोचना के विकास में इस ग्रन्थ का उल्लेखनीय स्थान है।

---

१ बाबू श्याम सुन्दरदास : साहित्यालोचन (प्र० सं० १९२२) प्रयाग भूमिका

२ बाबू श्याम सुन्दरदास : साहित्यालोचन (प्र० सं० १९२२) प्रयाग भूमिका पृष्ठ ४

बाबूजी की समीक्षा पद्धति अत्यन्त प्रौढ़ है और उनके विचार अत्यन्त सुलझे हुए और स्पष्ट हैं। उन्होंने आवश्यकतानुसार अनेक आलोचना पद्धतियों का आश्रय ग्रहण कर अपने विचारों को स्पष्ट किया है। उनके आलोचना सिद्धान्त इस प्रकार हैं। रस की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़कर जिन भावों का अनुभव करता है, वे वासना रूप में उसके हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायीभाव वासना रूप में पहले ही से उनके हृदय में विद्यमान रहते हैं। केवल बात इतनी है कि इस में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं होता, क्योंकि उनके विषय में आत्मा पर अज्ञान का आवरण छाया रहता है। निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से अज्ञान का आवरण हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मानन्द के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं या यह भी कह सकते हैं कि विभावानुभाव के प्रदर्शन पूर्व संस्कार को उत्तेजित कर प्रेक्षक को इतना तन्मय बना देते हैं कि उसकी चित्तवृत्ति आनन्दमय हो जाती है—यही रसास्वादन है।[1] काव्य में अलंकारों की स्थिति बाबूजी ने आवश्यक मानी है क्योंकि वे भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि का उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रसभाव आदि को उत्तेजित करते हैं। कलापक्ष तथा भावपक्ष के सम्बन्ध में अपना विचार स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, '···एक ओर तो हम अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं का अभिव्यंजन करते हैं और दूसरी ओर अपने सौन्दर्य ज्ञान के सहारे उन्हें सुन्दरतम बनाते तथा उनमें एक अद्भुत आकर्षण का आविर्भाव करते हैं। इन्हीं दो मूलतत्वों के आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं जिन्हें हम भावपक्ष तथा कलापक्ष कहते हैं। यद्यपि साहित्य के इन दोनों पक्षों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों के समुचित संयोग और सामंजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता है तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिए ये दोनों पक्ष अलग-अलग माने जा सकते हैं।'[2] इस प्रकार बाबूजी ने प्रचलित मान्यताओं का

---

१ बाबू श्याम सुन्दरदास : साहित्यालोचन (१९५५) इलाहाबाद, पृष्ठ २३०

२ बाबू श्याम सुन्दरदास : साहित्यालोचन (१९५५) इलाहाबाद, पृष्ठ २०५

समर्थन कर साहित्यशास्त्र सम्बन्धी शास्त्रीय परंपराओं को स्वीकार अपनी आलोचना को विकसित किया है।

अपने काव्य सिद्धान्तों को बाबू जी ने पूर्व और पश्चिमी सिद्धान्तों पर आधारित किया है। कला, कविता, उपन्यास कहानी, निबन्ध आदि की परिभाषा, स्वरूप एवं प्रकार के सम्बन्ध में जो कुछ भी पश्चिम में कहा गया है बाबू जी ने विवाद रहित रूप से उसे स्वीकार कर लिया है। उपन्यास को एक ओर जीवनी तथा दूसरी ओर कविता स्वीकार किया है। उपन्यासों में उन्होंने रस एवं आनन्द की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार की है। 'हम यह बात कई स्थानों पर लिख चुके हैं कि सब प्रकार के काव्यों की विशेषता यही होती है कि वे पढ़ने वालों में भिन्न-भिन्न मनोवेगों को उत्तेजित करके उनमें अलौकिक आनन्द का उद्रेक करें। यही मनोवेग या भाव साहित्य शास्त्र में रस के मूल में कहे जा सकते हैं। उपन्यासों में भी उनके संचार की आवश्यकता होती है। उनके बिना उपन्यास नीरस और प्रभाव शून्य होते हैं।'[1] बाबू जी के इस कथन को स्वीकार कर लेने में एक कठिनाई यह है कि आज मनोविश्लेषणवादी और मनोविज्ञान की पद्धतियों का आश्रय ग्रहण कर लिखे जाने वाले अन्य उपन्यासों को उपन्यासों के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देना पड़ेगा। बाबू साहब ने तब विदेशों में प्रचलित उपन्यास सम्बन्धी नवीनतम प्रवृत्तियों की ओर कदाचित् ध्यान नहीं दिया था। यह उनका उपन्यास साहित्य के साथ घोर अन्याय है। उपन्यास का एक मात्र उद्देश्य रस और आनन्द की उपलब्धि करना स्वीकार कर लेना उसके क्षेत्र को सीमित परिवेश में जकड़ देना ही है।

बाबू जी ने अपनी रसवादी प्रवृत्ति का भी परिचय दिया है। उन्होंने काव्य में भावों की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार की है। उनके विचार से साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस व्यापार में भी भाव की प्रधानता रही है।''''यह भी हम भली भाँति जानते हैं कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार में दीख पड़ता है। ज्ञान जन्म देता है दर्शन विज्ञान आदि शास्त्रों को, और भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत से। इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता रहती है। काव्यानन्द को बाबू जी ने

१ बाबू श्याम सुन्दरदास : साहित्यालोचन (१९५५) इलाहाबाद, पृष्ठ १६१

लोकहित के रूप में स्वीकार किया है। काव्य और आचार के सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रति अधिक आग्रहशीलता नहीं प्रकट की है। उन्होंने काव्य की कसौटी लोकप्रियता नहीं स्वीकार की है। काव्यानन्द को उन्होंने प्राकृतिक आनन्द से सर्वत्र भिन्न माना है। आलोचक के आवश्यक गुणों का निर्देश करते हुए बाबूजी का मत है, सबसे पहले समालोचना को विद्वान, बुद्धिमान, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों उसको समालोचना के कार्य से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथों का मर्म समझ जाएगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिल्कुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा उसकी गणना निन्दा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा।'[1] बाबूजी के इस मत को ग्रहण करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्वयं अपनी आलोचनाओं में उन्होंने इन नियमों का दक्षतापूर्वक पालन किया है।

बाबू जी विशेष रूप से सैद्धांतिक समीक्षा शैली के ही समर्थक रहे हैं और उसी का प्रयोग उन्होंने 'साहित्यालोचन' में किया है। उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों का समन्वय कर प्राप्त निष्कर्षों का अपने ढंग से विवेचन किया है। उनकी मौलिकता इसी में है। उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा पद्धति का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा सरल एवं बोधगम्य है। विचारों की स्पष्टता, सूझ-बूझ और विषय के गहन ज्ञान के कारण वे अपनी बातों को सशक्त ढंग से प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल हो पाए हैं।

बाबू गुलाब राय

शुक्ल युग के आलोचकों में बाबू गुलाब राय का प्रमुख स्थान है। 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' उनके प्रसिद्ध समीक्षा ग्रंथ हैं, जिनमें उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना प्रणालियों को अपनाया है। गुलाब राय जी ने तर्क वितर्कों की सहायता से अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनके आलोचना सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम के तथा भारतीय सिद्धान्तों का समन्वय है जिस पर गुलाब राय जी की मौलिकता की पूर्ण

४ बाबू श्याम सुन्दरदास : साहित्यालोचन (१९५५) इलाहाबाद, पृष्ठ २६०

छाप है। उन्होंने प्रचलित भारतीय मतों की अपनी दृष्टि से परीक्षा की है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में उनका कथन है' इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन है कि व्यक्ति कुछ समान धर्मों की ही प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है। साधारण (पतिव्रत) की प्रतिष्ठा तो सीता और डेसडीमोना (Desdimona) में कुछ-कुछ एक सी है, किन्तु उनका व्यक्तित्व भिन्न है। कृष्ण की अनन्यता के साधारण धर्म में सूर और नन्ददास की गोपियाँ एक सी हैं, किन्तु ऊधव के साथ बातचीत में तथा व्यवहार में वे भिन्न हैं. अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ वे हमारी रसानुभूति का विषय बनती हैं। हमारी समस्या इसी बात की है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व बनाए रखते हुए हम उसे किस प्रकार रसानुभूति का विषय बना सकते हैं। साहित्य में चाहे वह पाश्चात्य हो और चाहे भारतीय, व्यक्तित्व का विशेष मान है। दमयन्ती नल को ही वरण करना चाहती है, देवताओं को नहीं। व्यक्तित्व को खोकर साधारण गुण मात्र से काम नहीं चल सकता। किन्तु हां, भोजकत्व के लिए अपने पराए के सम्बन्ध से मुक्त होना आवश्यक है।'[1] यह कथन गुलाब राय जी ने शुक्ल जी के साधारणीकरण के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए उस मत के उत्तर में निवेदित किया था, जिसमें शुक्लजी ने कहा था कि 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होती ही है।''' तात्पर्य यह है कि आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।'[2] इस प्रकार साधारणीकरण के सम्बन्ध में गुलाबराय जी ने आलम्बन की वस्तुगत वास्तविकता और कवि की कल्पना का परस्पर समन्वय कर दिया है। 'लौकिक सामग्री को आस्वादन योग्य बनाने में कवि को बहुत कुछ काट-छाँट करनी पड़ती है और गाँठ का भी नमक-मिर्च-मसाला मिलाने की आवश्यकता होती है (यह भी एक प्रकार का साधारणी करण है)। किन्तु इसकी मात्रा में आचार्यों का मतभेद है। राजशेखर कवि का महत्ता देते हैं। उनका कथन

१ बाबू गुलाब राय: सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १६३-६४

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि

है कि चित्रकार के अनुकूल ही चित्र बनता है।''''किन्तु एक दूसरे आचार्य (भोज) पात्र को ही प्रधानता देते हैं। उनका कथन है कि कवि की वाणी का थोड़ा सा चमत्कार यदि वह लोकोत्तर नायक का वर्णन करता है तो वह विद्वानों के कानों का आभूषण बन जाता है।''''यह मात्रा का प्रश्न है। इसमें अन्तर होना स्वाभाविक है। कवि की कृति चाहे कितनी ही काल्पनिक क्यों न हो उसके लौकिक आधार की विषयगत सत्ता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। उसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि अपने ही चश्मे से संसार को देखता है। वह कच्चा सामान संसार से लेता है और उसे पकाकर आस्वाद योग्य बनाकर पाठक को देता है।'[1] इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय सिद्धान्तों, रसवादी नियमों आदि से गुलाबराय जी का कितना घनिष्ठ परिचय था। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उनका अभिमत है कि, 'रस काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एवं रजोगुण, तमोगुण-विमुक्त सतोगुण प्रधान आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द है।'[2] रस को वे मनोवेग नहीं वरन् मनोवेगों का आस्वादन मात्र बताते हैं। इसके साथ मनोविज्ञान का सहज सम्बन्ध जोड़कर उन्होंने पाश्चात्य विद्वान विलियम जेम्स, मैकडूगल तथा शैंड आदि की मान्यताओं की तर्कपूर्ण व्याख्या की है। उनका भारतीय रस-सिद्धान्त के नियमों के साथ सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन किया है। दोनों सिद्धान्तों और मतों के मध्य इस तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है, 'पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है क्योंकि आज का मनोविज्ञान केवल साइक या आत्म-विज्ञान के सीमित रूप तक ही रह सकता है, जब कि हमारे यहाँ रस का सम्बन्ध आत्मदर्शन के सहज आनन्द के साथ है।'[3] रहस्यवाद के सम्बन्ध में उनका मत है, 'रहस्यवाद उस भाव-प्रधान मनोदशा की शाब्दिक अभिव्यक्ति को कहते हैं जो व्यक्ति और विश्व के मूल में स्थित परम सत्ता के अव्यक्त या व्यक्त रूप के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने पर या करने की इच्छा से प्राप्त होती है।'[4] रहस्यवाद की दी गई अनेक परिभा-

१ बाबू गुलाबराय: सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७२-७३
२ वही, पृष्ठ ४०
३ बाबू गुलाब राय: सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २८
४ बाबू गुलाबराय: रहस्यवाद और हिन्दी कविता (२०१३) पृष्ठ १

षाओं में गुलाबराय जी की यह परिभाषा अत्यन्त सम्पन्न और सुसंयत मानी जा सकती है, जो रहस्यवाद के स्वरूप को पूर्ण रूप से स्पष्ट करती है।

सैद्धांतिक आलोचना सम्बन्धी गुलाबराय जी का प्रथम ग्रन्थ 'नवरस' है जो प्रथम बार (१९२७-२८) में प्रकाशित हुआ था। इसमें भारतीय पद्धतियों का आश्रय ग्रहण करते हुए पाश्चात्य काव्य शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय आचार्यों की देन पश्चिमी विद्वानों की तुलना में किसी भी प्रकार से न्यून या महत्वहीन नहीं है। काव्य शास्त्र सम्बन्धी जानकारी के विकास में और उसे समृद्ध बनाने में भारतीय आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान है, जितना पश्चिमी आचार्यों का। गुलाबरायजी की आलोचना शैली में पूर्ण नवीनता एवं मौलिकता है। व्यंग्य पद्धति को तो उन्होंने अपनाया है, पर कटुता और प्रहार की शैली से उन्होंने भरसक बचने का प्रयत्न किया है। उनकी आलोचना शैली में उदारता और सहृदयता तथा सहानुभूति के तत्वों का समावेश प्राप्त होता है। उन्होंने अपने को केवल गुण-दोष के विवेचन तक ही नहीं सीमित रखा है, वरन् उनके विवेचन एवं अध्ययन से निष्कर्ष निकालकर अपने मत भी दिये हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी आलोचना शैली निर्णयात्मक आलोचना शैली के निकट पहुँचती है। उनकी आलोचना शैली पर उनके व्यक्तित्व की पूर्ण छाप पड़ी है। उन्होंने स्थान-स्थान पर हास्य और व्यंग का भी आश्रय ग्रहण कर लिया है जिससे उनकी शैली की प्रभावाभिव्यंजकता में तीव्र वृद्धि हो जाती है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है, पर इसके साथ ही आवश्यकतानुसार उर्दू शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है जिससे उनकी भाषा में बड़ी प्रभाव-शीलता आ गई है।

गुलाब रायजी की आलोचना सम्बन्धी मान्यताएं भी यहाँ विचारणीय हैं। आलोचक धर्म की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है कि, 'जिस प्रकार कवि संसार से उत्पन्न अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया को प्रकाश में लाता है और अपने पाठकों को अपने हृदय के रस में मग्न करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार आलोचक कवि की कृति से जाग्रत अपनी प्रतिक्रियाओं को, चाहे उनका शास्त्रीय आधार हो और चाहे उसकी सूझ-बूझ, गहरी पैठ और वैयक्तिक रुचि को प्रकाश में लाकर दूसरों को अपने

भावों और विचारों से अवगत करा देना चाहता है। वह वास्तव में ग्रंथकर्ता और पाठक के बीच मध्यस्थ या द्विभाषिया का काम करता है। उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व रहता है।'[१] समालोचना केवल आलोचकों की वाणी का विलास मात्र नहीं है उसका मूल्य साहित्य और समाज दोनों के लिए है। आलोचक किसी कवि के कृति के गुणों के विवेचन तथा उसकी व्याख्या के अतिरिक्त उसका सामाजिक मूल्य देखता है। आलोचक के लिए यह प्रश्न बड़े महत्व का हो जाता है कि कवि या लेखक की रचना से सामाजिक आदर्शों में कहाँ तक उथल-पुथल होगी और वह समाज को उन्नति के मार्ग में कैसे आगे ले जाने में कहाँ तक और किस रूप में सहायक होगी। आलोचक मूल्य संबन्धी आलोचना कर साहित्य और समाज जो साहित्यस्रष्टा पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।'[२] इस प्रकार बाबू गुलाब राय जी ने साहित्य में आलोचना की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वीकार की है। जिस साहित्य का आलोचनात्मक साहित्य समृद्ध नहीं होता उसका सृजनात्मक साहित्य भी कभी समृद्ध नहीं हो सकता--यह बात सदैव ही ध्यान में रखनी होगी। किर साहित्य की गतिशीलता और उसके विकास का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आलोचना का उद्देश्य निर्माण और दिशा निर्देशन के साथ साहित्य की अन्तरात्मा में छिपे हुए सौन्दर्य तत्वों का अन्वेषण करना होता है, कटु प्रहार करना अथवा दोषारोपण करना नहीं। इस कसौटी पर यदि गुलाबराय जी की आलोचनात्मक प्रतिभा की परख की जाय तो वे खरे उतरते हैं। उन्होंने आलोचना का उद्देश्य महान् समझा है, अपने असंतोष, अरुचि अथवा व्यक्तिगत द्वेषों को अभिव्यक्ति करने का साधन नहीं। यही कारण है कि उनकी आलोचना पद्धति अत्यन्त संतुलित और व्यवस्थित है। उनके विचार सुलझे हुए और असंतुष्ट हैं। उनका विश्लेषण करने का अपना ढंग मौलिक है। गंभीर से गंभीर विषयों की आलोचना करते समय भी उसमें वे सरसता की सृष्टि कर देते हैं जिससे विषय की गंभीरता और महत्ता की क्षति भी नहीं पहुँचती, पाठकों का मन भी रमा रहता है। मैं समझता हूँ, गुलाबराय जी की यह बहुत बड़ी सफलता है और हिन्दी आलोचना के विकास-क्रम की दृष्टि से गौरव चिन्ह भी। हिन्दी आलोचना के विकास में गुलाबराय जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

१ बाबू गुलाब राय: काव्य के रूप (द्वि॰ सं॰ १९५०) दिल्ली, पृष्ठ २६२

२ वही, पृष्ठ २६९

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी स्वच्छन्दतावादी आलोचना पद्धति के प्रतिनिधि आलोचक हैं। यद्यपि उनके अध्ययन और आलोचना का प्रमुख क्षेत्र आधुनिक साहित्य ही है, पर उन्होंने भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्य पर भी यथास्थान अपने विचार प्रकट किए हैं। आलोचक व्यक्तित्व की उनमें पूर्ण समर्थता है और अपने विचारों को उन्होंने पूर्ण स्वष्टता के साथ स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्य शास्त्र सम्बन्धी विचारों को आधुनिक साहित्य में प्रकट किया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में उनका मत है, 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।'[1] इस प्रकार साधारणीकरण की उलझी ग्रन्थियों को सुलझाने में वाजपेयी जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रायः काव्यशास्त्र की व्याख्या करने वाले आलोचक शास्त्रीय पद्धति का आश्रय ग्रहण कर विषय को इतना उलझा देते हैं कि वह स्पष्ट होने के बजाय दुरूह कर देते हैं, पर वाजपेयी जी ने इस सम्बन्ध में विशेष सतर्कता बरती है और पांडित्यप्रदर्शन के बजाय विषयों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित सिद्धान्तों की भी उन्होंने व्याख्या की है उनके अनुसार, 'भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र के आधार पर आचार्य भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद, आचार्य शंकुक ने अनुमिति वाद, आचार्य भट्टनायक ने भुक्तिवाद और आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद को प्रधानता देकर क्रमशः जिन रूपों में अपना विवेचन प्रस्तुत किया है वह परस्पर विरोधी न होकर क्रमगत परंपरा का ऐसा विकास है जिसमें तत्वोपलब्धि की चेष्टाएं सर्वत्र अन्तर्भूत रही हैं।[2] उनके विचार में, 'लोल्लट का उत्पत्तिवाद काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से सम्बन्धित है और शंकुक का अनुमितिवाद अभिनययोजना द्वारा रस-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साहित्यिक विधान है। भट्टनायक का भुक्तिवाद काव्य में निहित प्रेषणीयता के तत्व को उद्घाटित करने की दिशा में अनुमिति सिद्धान्त की अपेक्षा एक

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य (सं० २०१३) पृष्ठ ४२२
२ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य (सं० २०१३) पृष्ठ ४१९

पग आगे है और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद सहृदय द्वारा किए जाने वाले रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृत्ति करता हुआ प्रतीत होता है।[1] 'रस निष्पत्ति में इन सिद्धान्तों का बराबर महत्व होता है और जिस प्रकार वेदान्त मत के रहते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनिमत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियां निरी-निरर्थक नहीं हो जातीं।'[2] इस प्रकार अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचन में उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों और भारतीय साहित्य शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का समन्वय कर उनका सम्बन्ध मनोविज्ञान से जोड़ा है और सर्वथा नवीन व्याख्याएं की हैं। उन्होंने अनुकृतिवाद का विश्लेषण और अध्ययन प्लेटो एवं अरस्तू की धारणाओं के अनुरूप करने का प्रयत्न किया है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं, साथ ही लैसिंग, विंकेलमैन तथा कांट के सौन्दर्यवादी और कलावादी सिद्धान्तों की भी व्याख्या एवं समीक्षा की है जिनसे क्रोचे को अपने बहुचर्चित अभिव्यंजनावाद सम्बन्धी सिद्धान्तों का स्वरूप निर्धारित करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। इन सिद्धान्तों के विश्लेषण में वाजपेयी जी ने सैद्धान्तिक आलोचना प्रणाली का उपयोग किया है और उसे यथासम्भव सरल बनाने का प्रयत्न किया है। भारतीय और योरोपीय काव्यशास्त्रीय नियमों को पचाने और आत्मसात करने तथा अपने मौलिक निष्कर्ष निकालने में उन्हें यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई।

साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न बारबार उठाये जाते रहे हैं। विशेषकर कुछ छायावादी कवियों और उपन्यासकारों को लेकर प्रायः साहित्य में वाद विवाद चल पड़ता है और श्लीलता और अश्लीलता पर विद्वान लोग अपनी-अपनी धारणाएं प्रकट करते हैं। वाजपेयीजी ने भी इस विषय पर अपना मत प्रकट किया है। उनके मत से 'महान् कला कभी अश्लील नहीं होती। उसके बाहरी स्वरूपों में यदाकदा श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्तिकाल में ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक संतुलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य (सं० २०१३) पृष्ठ ४२२
२ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य (सं० २०१३) पृष्ठ ४१९

सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।'[1] वाजपेयी जी के इस मत को स्वीकार कर लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जो अश्लील है उसे साहित्य की संज्ञा से कभी भी अभिहित नहीं किया जा सकता और चूंकि वह साहित्य नहीं है, इसलिए उसके महान् होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। निर्विवादरूप से अश्लील साहित्य निकृष्ट कोटि का होता है। उसमें सौन्दर्य तत्वों की पूर्ण उपेक्षा की जाती है। साहित्य का वास्तविक उद्देश्य मेरे विचार से मर्यादा और गौरव की वृद्धि करना, मानव मूल्यों का विघटन नियंत्रित कर निर्माण पथ की ओर मानव जाति को गतिशील करना और सौन्दर्यबोध एवं दिशानिर्देशन के नए प्रतिमान स्थापित करना है।

छायावादी और रहस्यवादी कविता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने अनेक प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण अपने दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न किया है। प्रतिक्रियावादी साहित्यसमालोचना की इस सन्दर्भ में उन्होंने खूब धज्जियां उड़ाई है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में भी ऐसी ही प्रतिक्रियावादी आलोचना प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'महादेवी की कविता चाहे जिस लोक में विचरण करती हो और चाहे जिस प्रियतम के पीछे पड़ी हो—उसकी रूपरेखा चाहे जैसी भी हो—उसमें नवीन विषम स्थितियों की प्रतिक्रिया काव्य के करुण संवेदनों के रूप में दिखाई देती है। परवर्ती कवियों के निराशामूलक संवेदनों और महादेवी जी के इन करुण संवेदनों में यदि कुछ अन्तर है तो इतना ही कि आध्यात्मिक आधार ग्रहण कर लेने के कारण उनके काव्य में अब भी एक आस्तिकता और आश्वासन है जबकि नवीनतर काव्य अपने सारे आश्वासन खोकर नग्न निराशा और विद्रोह में परिणत हो गया है।'[2] उन्होंने किसी कवि अथवा रचना को मात्र इसलिए नहीं श्रेष्ठ मान लिया है क्योंकि वह प्रचलित मान्यताओं एवं धारणाओं के कारण श्रेष्ठ है। उन्होंने उनकी सम्यक परीक्षा की है और तर्कों की कसौटी पर परखा है। इसीलिए उनकी आलोचना पद्धति में अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति के साथ पर्याप्त वैज्ञानिकता की प्रवृत्ति भी समाहित हो गयी है। एक आलोचक का यही वास्तविक धर्म होता है। साहित्य समीक्षा का उत्तरदायित्व

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, भूमिका पृष्ठ २३

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नए प्रश्न, निकर्ष, पृष्ठ १

गहन होता है। उसमें निर्माण के प्रश्न और दिशानिर्देशन के मौलिक प्रश्न भी सम्मिलित रहते हैं। आलोचक को इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए अपनी आलोचना पद्धति निश्चित करनी पड़ती है और काव्य तथा कला आदि विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में अपनी नीतियां निर्धारित करनी पड़ती हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो वाजपेयी जी आज के कुछ इने-गिने आलोचकों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हिन्दी आलोचना को समृद्ध बनने में उनका प्रयास स्तुत्य है।

काव्य के महत्व के सम्बन्ध में वाजपेयीजी का मत है कि 'काव्य का महत्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएं काव्य निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं। वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता , उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियंत्रण वाह्य स्थूल व्यापार का वाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।' यह सत्य भी है क्योंकि काव्य परीक्षा के प्रधान मानदण्डों के रूप में ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टिकोणों के तर्क-संगत रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता और न ही उनका औचित्यानौचित्य ही सिद्ध किया जा सकता है। यद्यपि ये प्रधान मानदण्ड नहीं हैं फिर भी अनुपेक्षणीय नहीं हैं। हाँ, काव्य तथा उसकी समीक्षा की इनसे पृथक सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती – वाजपेयी जी का मत यही स्पष्ट करता है। आलोचक का उद्देश्य वाजपेयी जी के अनुसार कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन करना है और अन्तत: कवि की मूल संवेदना और मनोभावों का उद्घाटन करते हुए यह बताना है कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ। यह आलोचना सम्बन्धी प्रौढ़, तर्क संगत एवं आदर्शवादी धारणा है जिसका पालन वाजपेयी जी ने अपनी आलोचना में वर्णन किया है।

सौष्ठववादी समालोचक का प्रधान गुण होता है कि वह भावों की असीम और अनन्त प्रवृत्तियों से साक्षात्कार कर लेता है। वाजपेयी जी में भी ये गुण पर्याप्त मात्रा में हैं। तथ्यों की गहराई में जाकर उसे भावनात्म-

कथा के स्तर पर स्पष्ट करने में उनकी अपनी विशेषता है। इसका एक उदाहरण अपेक्षित होगा, 'रास के वर्णन में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल 'श्रीमद्भागवत' की अनुकृति कवि ने नहीं की है, वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो लज्जा, गोपियों का जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण दिखाया है और रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बन्धी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना; अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किये गए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं।'[1] इसी प्रकार कृष्ण के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक स्थान पर वे कहते हैं, 'कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी संभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतना गहरा यह नहीं पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े। यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हल्की आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।.... बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप पुण्य निर्लिप्त दीख पड़ती है।....पाप-पुण्य निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किये कैसे होती ? अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का यह प्रसार एक हृदय की सृष्टि करता है; यह रहस्य प्रकृत काव्य वर्णन का अंग बनकर आया है। यही सूरदास की विशेषता है।'[2] इस प्रकार के विवेचनों से वाजपेयी जी उन आलोचकों को भी उत्तर दे देते हैं, जो यह समझते हैं। कि वाजपेयी जी का अध्ययन केवल आधुनिक काल तक ही सीमित है भक्ति कालीन कविता और प्रवृत्तियों का इतना सुन्दर सहज विवेचन प्रायः कम ही देखने में मिलता है। साहित्य के सम्बन्ध में हुए नए अन्वेषणों का यथासम्भव उपयोग कर वाजपेयी जी ने अपने विवेचन को नवीन एवं वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है।

वाजपेयी जी ने शुक्लजी की विश्लेषणात्मक पद्धति का पूर्णतया विकास कर निगमनात्मक (Inductive) बना दिया। कहीं-कहीं वे भावुकता के प्रवाह में भी बह जाते हैं :—

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : सूर सन्दर्भ, पृ० २६

२ वही पृ० १५-१९

'स्थिति विशेष का पूरा विम्बदर्शन भी करें, घटना क्रम का अभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जायें, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गो-चारण अथवा गोवर्द्धन धारण के प्रसंग कथात्मक हैं। किन्तु उन कथाओं को भी तन्मयकर सुन्दर स्वभाव गीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे है।'[३] इस प्रकार उनकी आलोचना शैली की स्पष्टता दृष्टिगोचर होती है।

वाजपेयी जी ने हिन्दी में सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति का पूर्ण विकास किया है। उनकी पद्धति निगमनात्मक (Inductive) और इंगित है। भारतीय अलंकार शास्त्र और पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के परस्पर समन्वय से उन्होंने अपने मौलिक निष्कर्ष तर्क-वितर्क के पश्चात् निकाले हैं और अपनी आलोचना पद्धति को उसी पर आधारित किया है। वाजपेयी जी की आलोचना पद्धति में व्याख्यात्मक और तुलनात्मक आलोचना पद्धतियों का भी समावेश है। उनकी आलोचना शैली पूर्वाग्रहों से मुक्त है। उनके विचार से आलोचक का पहिला और प्रमुख कार्य है—कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसंधान। इस कार्य में उनका व्यापक अध्ययन, उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि और उनकी सिद्धान्त निरपेक्षिता ही उसका साथ दे सकती हैं, सिद्धान्त तो उसमें बाधक हो बन सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने आलोचनात्मक आदर्श का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है :—

१ रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic spirit)

२ रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation)

३ रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन (Study of technique)

४ समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन

५ कवि और व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)

३ वही पृ० १५

६ कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन

७ काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन।

इस प्रकार वाजपेयी जी ने अपने उद्देश्यों एवं आदर्शों को उपयोगितावादी दृष्टिकोण से सम्बन्धित कर आलोचना को सत्प्रयास की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है। अपने विचारों को उन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया है। पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के कारण उनकी शैली संतुलित और व्यवस्थित है। उन्होंने पक्षपात कर आलोचना शैली को दूषित बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। पर कहीं-कहीं वे आवश्यकता से अधिक कटु हो जाते हैं और आवश्यक रूप से तीखे प्रहार करने लगते हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी आलोचना का संतुलन समाप्त हो जाता है और उसका कोई तर्कसंगत रूप नहीं रह पाता। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में की गई उनकी आलोचनाएँ इसी प्रकार की हैं। कहीं-कहीं व्यंग और उपहास के भाव भी उनकी आलोचना शैली में लक्षित होते हैं। चूँकि वे अध्यापक हैं, इसलिए उनकी अध्यापकीय शैली का भी समावेश उनकी आलोचना में यथास्थान हो गया है। 'महाकवि सूरदास' और 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' में व्यावहारिक आलोचना शैली के प्रौढ़ रूप प्राप्त होते हैं।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी के आधुनिक समालोचकों में डॉ०हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान महत्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य पर उनके अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें उनकी अनूठी एवं मौलिक आलोचनात्मक प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। उनके निबन्धों के भी अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में फैली हुई अव्यवस्था की ओर ध्यान देते हुए उन्होंने व्यक्त किया है, 'कि ये समालोचक काव्य का विश्लेषण करते हैं, गुण दोष का निर्णय नहीं। लेकिन वनस्पति शास्त्री के बबूल और गुलाब का जाति-भेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो बताए कि इन दोनों में से किसका प्रयोग मानव जाति के किस कल्याण में किया जा सकता है। उसी प्रकार इस समालोचना के बाद भी इस बात की जरूरत रह जाती है कि समालोचक नहीं तो कोई और ही बताये कि किस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है, अर्थात् समाज के लिए कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है। इस प्रकार समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है। असल में सवाल

जुडिशियल या इनडक्टिव आलोचना का नहीं है, सवाल है एक सामान्य निर्णायक साधन का। भारतवर्ष के पण्डितों ने अनेक रगड़-झगड़ के बाद एक सामान्य साधन (कॉमन स्टैण्डर्ड) बनाने की चेष्टा की थी; पर काल परिवर्तन के साथ वह अस्त्र भी खोया हो गया है फिर भी उनके सुझाए हुए मार्ग से नये स्टैंडर्ड का उद्‌भावन किया जा सकता है; किन्तु दुर्भाग्यवश अपने समालोचकों को मैथ्यू आर्नल्ड से फुर्सत ही नहीं मिलती। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की सुने कौन ? इन प्राचीन भारतीय पण्डितों ने जो कुछ कहा है, सोच समझ कर कोलाहलपूर्ण ढंग पर वक्तव्य वस्तु को अनावश्यक फेनिल करना इन्हें नहीं आता था।'[1] द्विवेदी जी की इस शिकायत में पर्याप्त सार है और यद्यपि यह आलोचना आज से अनेक वर्षों पूर्व लिखी गई थी। वह स्थिति अभी परिवर्तित नहीं हुई है और आलोचना क्षेत्र की तत्कालीन समस्याएँ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं।

भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों की भी सुन्दर व्याख्याएँ द्विवेदी जी ने की हैं। मात्रिक छन्दों के सम्बन्ध में एक स्थान पर उन्होंने कहा है, ''मात्रिक छन्दों में जहां काव्य सौन्दर्य है वहीं करुण स्वर-लहरी को अभिव्यक्त करने का विशेष गुण भी। कालिदास ने करुण-रस के लिए अन्य सभी वर्णवृत्तों को त्यागकर वैतालीय वृत्त का आश्रय लिया है पर वह वृत्त हिन्दी में 'उष्ट्रपृष्ठवद्विसंष्ठुलम्' जान पड़ता है। जयदेव ने वियोग-शृंगार के लिए मात्रिक छन्दों को ही चुना है। वस्तुतः मात्रिक वृत्त वियोग या विरह को अभिव्यक्त करने में अपनी सानी नहीं रखते। मगर कुछ ऐसे भी भाव हैं जो मात्रिक वृत्तों में फीके से जान पड़ते हैं।'[2] अलंकारों के सम्बन्ध में एक स्थान पर वे कहते हैं, 'यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकार शास्त्र में देवादि विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन अलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जबकि किसी राजा या देवता संबंधी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है। वह अस्थायी संचारी भावों की तरह बदलता रहता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती।'[3] इसी प्रकार मधुर रस

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क (१९४५) जबलपुर; पृष्ठ २०

२ वही पृष्ठ ३४

३ वही पृष्ठ ८७

के सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं, 'रस कई प्रकार के हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोष का आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकार प्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म हैं मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धि द्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रस के निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रस का अनुभव करती है वही सर्वश्रेष्ठ भक्तिरस है जिसका नाना स्वभावों के भक्त नानाभाव से आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ रूप है।'[1] काव्यशास्त्र की इन समस्याओं का अध्ययन एवं आलोचना द्विवेदी जी ने मौलिक ढंग से किया है। स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र एवं यूरोपीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की परस्पर तुलना से ही उन्होंने अपने निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर उनकी मौलिकता एवं व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है।

काव्य और सहृदय के संबंध को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, '.... सहृदय ही काव्य के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय कर सकता है। अभिनवगुप्त ने बताया है कि सहृदय वह व्यक्ति होता है, जिसके मन रूपी मुकुर में-मनोमुकुर जो काव्यानुशीलन से स्वच्छ हो गया होता है वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है। ऐसे ही हृदय संवाद के भाजन रसिकजन सहृदय कहलाते हैं। पर हृदय संवाद का भाजन होना क्या मामूली तप का फल है? केवल शब्द और अर्थ की निरुक्ति जानने मात्र से ही यह दुर्लभ गुण नहीं प्राप्त हो जाता। कवि का अभिप्राय सब समय शब्दों द्वारा प्रकट ही नहीं हो जाता। कभी-कभी वह एकदम शब्दगोचर होता ही नहीं। उसके शब्दों में जो आर्द्रता होती है उसे सब नहीं समझ पाते।'[2] जो लोग काव्य में अलंकारों को रसबोध में बाधक मानते हैं और उसका विरोध करते हैं उनसे अपनी असहमति प्रकट करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है, मेरा निश्चित मत है कि हमारे अलंकार शास्त्र रस-बोध में सहायक हैं, बाधक नहीं। हमें आज उन्हें प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिए।... वे काव्यार्थ में प्रवेश करने का मार्ग दिखाते हैं। उन्हें इसी रूप से ग्रहण करना चाहिए। भारतीय मनीषा के

---

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क (१९४५) जबलपुर, पृष्ठ १२६

२ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म, पृष्ठ २५

सर्वोत्तम अंगों में से एक का प्रतिनिधित्व करने वाले इन ग्रन्थों को यों नहीं छोड़ देना चाहिए।'[1] द्विवेदी जी के इन विचारों में पर्याप्त बल है। अलंकारों का अतिशय प्रयोग एवं उसे लेकर अनावश्यक पाण्डित्यप्रदर्शन करने की प्रवृत्ति जैसा कि रीतिकालीन कवियों ने किया था अवश्य ही उपेक्षणीय है, पर जब अलंकारों का संतुलित और काव्य की आवश्यकतानुसार उचित प्रयोग होता है, तो निश्चय ही वे काव्य सौष्ठव की अभिवृद्धि करते हैं। ऊपर काव्यशास्त्र से सम्बन्धित पक्षों पर द्विवेदी जी के जिन मतों को उद्धृत किया गया है उनसे तो इतना स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रति द्विवेदी जी का कितना गहन् अध्ययन एवं चिंतन है और इस सम्बन्ध में उनके विचार कितने सुलझे हुए और तर्कपूर्ण हैं। प्रायः काव्यशास्त्र की आलोचना करने वाले आलोचक भारतीय काव्यशास्त्र की मुख्य प्रवृत्तियों और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र संबंधी विशेषताओं को एक स्थान पर रख कर उनका तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं और उसके उपरान्त अपने निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं पर इस तुलनात्मक अध्ययन और मनोविज्ञान से उसका सम्बन्ध जोड़ने की प्रयत्नशीलता में वे ऐसा भटक जाते हैं कि बजाय समस्याओं को स्पष्ट करने के वे स्वयं भी उलझते जाते हैं। द्विवेदी जी ऐसी विषमता-पूर्ण स्थिति से अपने को स्पष्टतया बचा ले गए हैं। इसका कारण स्पष्ट है। उनमें दोनों ही सिद्धान्तों को पचा लेने की अपूर्व क्षमता है और अपने मौलिक निष्कर्ष उन्हें आत्मसात् कर निकालने की विलक्षण दक्षता है। इस दृष्टि से अन्य आलोचकोंकी अपेक्षा द्विवेदी जी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

द्विवेदीजी का साहित्यिक दृष्टिकोण पूर्णतया मानवतावादी है। जो साहित्य मानव मूल्यों को महत्व देकर मानवीय व्यक्तित्व के विकास में सहायक नहीं होता है और साथ ही कुंठाजन्य निराशा एवं घुटन के वातावरण का विच्छेदन कर चिरंतन सत्य की स्थापना की प्रेरणा नहीं देता वह साहित्य व्यर्थ होता है, मूल्यहीन होता है। द्विवेदी जी भी ऐसे साहित्य का कोई मूल्य नहीं समझते। प्रश्न उठता है कि मानवतावाद है क्या ? इसका उत्तर देते हुए द्विवेदी जी का कथन है, 'विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनों के मूल में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है। ""नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म, पृष्ठ २७

इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्व की मर्यादा का बोध इस नवीन मानवतावाद को स्वीकार करने का युक्तिसंगत परिणाम हो सकता है मनुष्य की मुक्ति। सब प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषणों से मनुष्य को मुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य के जीवन का बड़ा मूल्य है।'[1] द्विवेदी जी ने बराबर अपनी साहित्यिक दृष्टि साहित्य एवं कला में इन्हीं तथ्यों के अन्वेषण की ओर रखी है जिसके कारण उनकी आलोचना में उदात्त तत्वों की प्रधानता हो गई है और एक विशिष्ट स्तर पर अधिष्ठित हो गई है जहाँ मानवीय संवेदनाओं को गौरव प्राप्त हुआ है, जीवन और साहित्य का निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ है। मैं समझता हूँ उनकी आलोचना की सफलता का यह एक बहुत बड़ा रहस्य है। द्विवेदी जी ने काव्य या कला में मात्र कलापक्ष पर ही अपनी दृष्टि नहीं केन्द्रित की है, अपितु भाव पक्ष की ओर भी उन्होंने प्रमुख रूप से ध्यान दिया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वे कला-कला के लिए नहीं, वरन् कला जीवन के लिए सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और मानवतावादी दृष्टि से उसे परखते हैं।

द्विवेदी जी की कबीर सम्बन्धी विचारधारा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य को इस सम्बन्ध में उन्होंने उल्लेखनीय सामग्री प्रदान की है। प्रायः कबीर के जाति विरोधी विचारों को देखकर उन्हें विदेशी कह दिया जाता है और इसी आधार पर उनकी आलोचकों ने आलोचना भी की है। पर द्विवेदी जी इससे सहमत नहीं हैं। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है, 'कबीरदास के जाति-पाँति विरोधी विचारों को देखकर बहुत से लोगों की यह धारणा होती है कि कम से कम यह बात कबीरदास में मुसलमानी प्रभाव के कारण आयी है। किसी-किसी पंडित को तो यह शंका भी हुई है कि ये बातें मुसलमानी धर्म प्रचार के हथकण्डे हैं और कुछ लोग मुसलमानी आदर्श के प्रति कबीरदास की गहरी निष्ठा का प्रमाण इन्हीं बातों में बताते हैं। यह उक्तियाँ कुछ जचती सी नहीं जान पड़तीं। जाति वर्ण के भेद से जर्जरीभूत इस देश में जो कोई महासाधक आया है उसे यह प्रथा खटकी है। ऐसे बहुत से प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनमें जाति भेद को उड़ा देने पर जोर दिया गया है। पर संस्कृत की पुस्तकें साधारणतः ऊँची जातियों के लोगों द्वारा

---

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क (१९५५) जबलपुर, पृष्ठ ९०

लिखी गई होती हैं जिनमें लेखक केवल तटस्थ विचारक की भाँति रहता है। स्वयं नीच कहे जाने वाले वंश में उत्पन्न नहीं होने के कारण उनमें भुक्त भोगी की उग्रता और तीव्रता नहीं होती। सहजयान और नाथपंथ के अधिकांश साधक तथा-कथित नीच जातियों में उत्पन्न हुए थे अतः उन्होंने इस अकारण नीच बननेवाली प्रथा को दार्शनिक तटस्थता के साथ नहीं देखा। कबीरदास आदि के विषय में भी यही बात ठीक है फिर भी उच्चवर्ण के लोगों ने सदा तटस्थता का ही अवलम्बन नहीं किया।'[1] इस प्रकार की खण्डन-मण्डन एवं वकीलों जैसी तर्क प्रणाली अपनाकर अपने मन्तव्य को स्पष्ट करना द्विवेदी जी की अपनी विशेषता है। उन्होंने कबीरदास पर योगमत का प्रभाव लक्षित करते हुए 'अवधूत' शब्द की समीक्षा की है और 'साधारण योगी' तथा 'अवधूत' शब्दों में अन्तर स्वीकार किया है। कबीर के 'अवधूत' शब्द को उन्होंने विशिष्ट माना है। 'कबीर महान् थे क्योंकि वे रूढ़ियों और मिथ्या विश्वास के शिकार नहीं हुए। वे उस बेमतलब की निजत्व बुद्धि के भी शिकार नहीं हुए जो दूसरों की लिखी हुई बात को तोड़-मरोड़ कर कहने में दूसरों से ग्रहण करने के महादोष से अपने को मुक्त समझती है। उनमें ग्रहण करने की भी शक्ति थी, इसीलिए वे महान् थे।'[2] 'उनके प्रेम और भक्ति में वह गलदश्रु भावुकता नहीं थी जो जरा सी आंच से ही पिघल जाय। वह प्रेम ज्ञान द्वारा, नीति और श्रद्धा द्वारा अनुगमित था। वियोग की बात भी वे उसी मौज से कह सकते थे जिस तरह संयोग की। उनका मन जिस प्रेम रूपी मदिरा से मतवाला था वह ज्ञान के महुवे और गुड़ से बनी थी, इसीलिए अन्ध श्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उसमें एकान्त अभाव था। भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को अति पतित नहीं समझा। सिर से पैर तक वे मस्तमौला थे; बेपरवाह, दृढ़, उग्र,।'[3] कबीरदास के व्यक्तित्व का इतना

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९६३) बम्बई, पृष्ठ २७

२ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९६३) पृष्ठ, ३२

३ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९६३) पृष्ठ, ८०

सुन्दर विश्लेषण अत्यन्त दुर्लभ है। द्विवेदी जी की सरस शैली में यह व्यक्तित्व और भी सरल ढंग से प्रस्तुत हो सका है।

द्विवेदी जी मूल्यवादी समीक्षा पद्धति के समर्थक हैं उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षा शैली का भी उपयोग किया है। वे साहित्य में मानवतावाद के समर्थक हैं और उनकी आलोचनात्मक दृष्टिकोण पर मानवतावादी दृष्टिकोण का गहन प्रभाव पड़ा है। उनकी आलोचना शैली पर अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति एवं गवेषणात्मकता का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। शास्त्रीय आलोचना पद्धति का भी अनुसरण उन्होंने यथास्थान किया है। पर इतना होते हुए भी उनका दृष्टिकोण उदारवादी और सहानुभूतिपरक है। अपने व्यक्तित्व के ही अनुरूप आलोचना में भी कटुता एवं प्रहार की प्रवृत्ति अपनाना उन्होंने अपना उद्देश्य नहीं समझा है। वे सफल अध्यापक गंभीर, चिंतक और विचारक हैं। उनकी आलोचना पद्धति इन विशेषताओं से घनिष्ट रूप से प्रभावित हुई है। उनके विचार से जो ग्रन्थ या ग्रन्थकार किसी जाति को सच्चे रूप में उपस्थित करता है उसके गुणदोषों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त कर सकता है, वह संसार की सबसे बड़ी सेवा करता है। यही वह तीसरी वस्तु है जिससे मैं किसी ग्रन्थकार के औचित्य का निर्णय करता हूँ। उनके विचार से आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है, उस सड़ी हुई समाज व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों को सुनाने में बाधक है। इसी सन्दर्भ में उनका मत है, 'इसीलिए साहित्यकार आज केवल काव्यलोक का प्राणी बन कर नहीं रह सकता। दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम सृष्टि करना ही सबसे प्रधान कर्तव्य नहीं है। संपूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी आवश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके।' (हमारी साहि० सम० पृ० ९०-९९) इस प्रकार उन्होंने साहित्यकार का दायित्व स्वीकार किया है कि वह यथार्थ की कठोर भूमि पर आकर मानवजीवन के सत्य का परीक्षण करे और मानव मूल्यों के विकास में सहायक हो सके। तभी इस मानवतावाद का व्यापक प्रसार हो सकेगा जिससे विघटित होने वाले मानव मूल्यों में रुकावट की स्थिति उत्पन्न होगी और चिरंतन सत्य की स्थापना होगी। द्विवेदी जी का हृदय अत्यन्त संवेदनशील है। उनकी आलोचना शैली में एक उन्मुक्त गति और स्वच्छंदता पाई जाती है। कहीं-कहीं पर उनकी आलोचनात्मक शैली में भाषण कला का सा प्रवाह मिलता है और कहीं ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई अध्यापक अपने

छात्रों को कोई तथ्य एक के बाद एक स्पष्ट करता हुआ समझा रहा है। उनकी आलोचनाओं से उनका गंभीर अध्ययन, बहुलता, गहन चिंतन एवं मनन तथा मौलिक सूझ-बूझ का स्पष्ट आभास होता है। उनकी भाषा यद्यपि प्रायः संस्कृतनिष्ठ होती है और उसमें थोड़ी बहुत क्लिष्टता भी आ जाती है, पर अन्ततोगत्वा वह बड़ी ओजपूर्ण है। उसमें प्रवाहमयता है। उनकी वाक्य रचना सीधी, सरल और प्रवाहपूर्ण है। उनकी भाषा में तद्भव, देशज और सरल विदेशी शब्दों; यथा अरबी, फ़ारसी और अंग्रेजी आदि का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा सुगठित, परिष्कृत और सुनियोजित है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में द्विवेदी जी का स्थान सदैव अग्रगण्य रहेगा।

डॉ० नगेन्द्र

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र का अपना विशिष्ट स्थान है। आधुनिक काल में शास्त्रीय समीक्षा पद्धति को वैज्ञानिक ढंग से विकसित करने में उनका बड़ा हाथ रहा है। वे एक सफल अध्यापक भी हैं और दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की जितनी सुन्दर और तर्कसंगत व्याख्याएं डॉ० नगेन्द्र ने की है, आचार्य शुक्ल के बाद किसी हिन्दी आलोचक ने वैसा नहीं किया है। काव्यशास्त्र के प्रति उनकी विशेष रुचि है और उनका गहन् अध्ययन है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने नितान्त मौलिक निष्कर्ष निकाले हैं। यहाँ उनके कुछ शब्दशास्त्र संबंधी विचारों का ज्ञान लेना उचित होगा। इस निष्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के निष्कर्ष बहुत सरल किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भट्ट लोल्लट के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि द्वारा अंकित उनके प्रतिरूप व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट नहीं कर पाया और न यह स्पष्ट कर पाया है कि 'ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। काव्य में तो उनके प्रतिरूप नायक-नायिका की ही सत्ता है, जो कवि की अपनी अनुभूति के मूर्त रूप मात्र हैं। अतएव नायक-नायिका में रस की स्थिति मानना वास्तव में कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट वास्तव में यह नहीं जान सका कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय, इसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य का सृजन करते समय रस का अनुभव करता है। उसके विवेचन की सबसे बड़ी सीमा यही थी, क्योंकि इस प्रकार कल्पित पात्र और

कल्पित घटना वाले उपन्यास, कथा आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नहीं रह जाता। उसने सामाजिकता के रसास्वादन को सर्वथा गौण स्थान दिया है।'[1] शंकुक के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'उसने रसास्वादन के विवेचन में विशेष योग नहीं दिया। भट्ट लोल्लट की सीधी बात को उसने और उलझा दिया है और सहानुभूति तत्व का निषेध करके अनुमान के सिद्धान्त द्वारा उलटा भ्रम पैदा कर दिया है। उसकी देन बस एक है—वह यह कि नट-नटी के अभिनय कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्वपूर्ण योग देता है। इस तथ्य का उसने असंदिग्ध शब्दों में निर्देश किया है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह है कि उसने रस सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तु परक-स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया। भट्टनायक के विवेचन से रसशास्त्र अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत हुआ, इसमें संदेह नहीं। उसने अभिनय से पूर्व रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्य के लिए अमर वरदान सिद्ध हुआ जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी।'[3] डॉ० नगेन्द्र ने स्वीकार किया है कि 'रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं। वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन संज्ञाएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, परन्तु तत्वतः उसकी अनुभूति है और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है।[4] डॉ० नगेन्द्र ने इसीलिए अभिनव गुप्त के सिद्धान्त को पूर्ण माना है। अभिनव गुप्त ने कहा था कि मानव-आत्मा शाश्वत है। सभी आत्माओं में, विशेषकर सहृदयों की आत्माओं में स्वभाव से ही सांसारिक अनुभव पूर्वजन्य अथवा पठन-पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ संस्कार रूप में स्थित रहती है। ये वासनाएँ ही पारिभाषिक शब्दावली में स्थायी भाव कहलाती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के कुल प्रदर्शन से ये

---

१ डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) पृष्ठ ४१
२ डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) पृष्ठ ४२
३ डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) पृष्ठ ४४
४ डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) पृष्ठ ५१

गुप्त वासनाएँ या स्थायी भाव ही उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी डॉ० नगेन्द्र के सिद्धान्त विचारणीय हैं। उनके विचार से 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है। अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित व्यक्ति भी कर लेते है, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सबमें नहीं होती; इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते।'[1] साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन शक्ति का आधार है : मानव सुलभ सहानुभूति। भावशक्ति थोड़ी बहुत सभी में होती है इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप में समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है—अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर 'वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदय में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।[2] स्पष्ट है डॉ० नगेन्द्र ने अपने इन सिद्धान्तों को पाश्चात्य और संस्कृत काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के परस्पर समन्वय से अपने निष्कर्षों को निकाल कर उनका सम्बन्ध मनोविज्ञान से स्थापित किया है। अपने सिद्धान्तों को उन्होंने पर्याप्त तर्क के साथ उपस्थित किया है तथा पश्चिमी और-संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विद्वतापूर्ण विवेचन कर भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) दिल्ली, पृष्ठ ४७

२ डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) दिल्ली, पृष्ठ ४९

भावों के क्षेत्र में एक भाव दूसरे भाव की तुलना में सशक्त हो सकते हैं या कोमल हो सकते हैं। मनोविज्ञान ने इनका विवेचन नहीं किया है और न वर्गीकरण ही, परन्तु साहित्य में भावों का महत्व अत्यधिक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्यों के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य विधान निश्चित किया है यह भी एक दृष्टिकोण है। परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। इस प्रकार एक विवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भावों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने-अपने मत ढंग से दिया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में भावों को सिद्ध माना गया है और स्थायी भाव को पुष्ट एवं स्थिर स्वीकार किया गया है। संस्कृत आचार्यों के मतानुसार इसीलिए स्थायी भाव ही रस दशा को प्राप्त होता है न कि संचारी भाव। संस्कृत आचार्यों ने संचारी भाव स्थायी भाव में उन्मग्न निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत-तिरोभूत होने वाले भावों को माना है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के मत इस प्रकार हैं, 'आरम्भ में तो संस्कृत-साहित्य शास्त्र के स्थायी भावों का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था परन्तु बाद में दार्शनिक आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर उन्हें व्यापक बनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मनःशास्त्रों की कसौटी पर यह बहुत अंशों में खरा उतरता है। संचारी तो मनोविकार का पर्याय ही है। स्थायी भाव की स्थिति मौलिक मनोवेगों की है जो अपनी शक्ति, स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की संचालक एवं प्रेरक वृत्तियाँ हैं। इन मनोवेगों की संख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियों के अन्तर्गत ही सब सशक्त मनोवेगों का समाहार कर दिया है। इस संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि में भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी संचारियों के लिए ऐसा कहा है परन्तु कम-से-कम कुछ एक में (जैसे ग्लानि, असूया आदि में) रस परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी। इस प्रकार साधारण शोधन, परिशोधन और विशेष व्याख्या के द्वारा स्थायी की स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक बन सकी है।'[1] नायिका भेद का भी

१ डॉ० नगेन्द्र: रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) दिल्ली, पृष्ठ ७५-७६

डॉ० नगेन्द्र ने विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। संस्कृत आचार्यों ने नायिका का वर्गीकरण मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा किया है फिर इसके भी अनेक भेद और उपभेद किए गए हैं। विश्वनाथ ने परकीया के दो भेद माने हैं—प्रौढ़ा और कन्यका। इसके विपरीत भानुदत्त ने प्रौढ़ा के ६ भेद किए हैं। आगे उसके और भी उपभेद किए हैं। प्राचीन आचार्यों ने नायिका भेद का आधार जाति, कर्म, पति का प्रेम, वय, मान, दशा और काल तथा प्रकृति या गुण स्वीकार किया है। इन आधारों में कुछ तो मूलगत हैं और कुछ स्थूल हैं। यह अवश्य है कि सभी में नायक-नायिका की पारस्परिक रतिभावना आधार भूमि के रूप में अभिमलित है और सभी में इस भावना को एक प्रकार से अनिवार्य माना गया है। इस वर्गीकरण में यह स्वीकार कर लिया गया है कि मानव-प्रकृति मूलतः एक है। यह तो संस्कृत आचार्यों की बात हुई। डॉ। नगेन्द्र के अनुसार, 'वास्तव में यह सिद्धान्त अव्यक्तिक रूप में चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यतः अधिक व्यवहार्य नहीं है, क्योंकि प्रकृति की एकता प्रायः दुर्लभ है ऊपर से एक दिखने वाली परिस्थितियों में कितनी आन्तरिक गुत्थियाँ हैं। यह हम साधारणतः नहीं जान पाते। इसकी तह में जनन विज्ञान, समाज विज्ञान और इसके परिणामस्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए हैं।''' इसके अतिरिक्त इस विभाजन में एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो वह प्रेम अथवा काम-वृत्ति के बाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वतः परिमित भी मानकर चला है। काव्य वृत्ति अपने मूल रूप में स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार तथा उस पर अन्य प्रवृत्तियों की भी क्रिया प्रतिक्रिया होती है। यह असंदिग्ध है। हमारे नायिका भेद में इसका ध्यान नहीं रखा गया है।'[१] नगेन्द्र का यह निष्कर्ष नितान्त मौलिक है और सुस्पष्ट है। उनकी यह देन हिन्दी के लिए बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। उन्होंने एक ओर राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों की तथा दूसरी ओर रिचर्ड्स, टी० एस० ईलियट, क्रोचे आदि पश्चिमी आचार्यों के मतों की अत्यन्त आधिकारिक एवं तर्कसंगत समीक्षा की है। अपनी ग्रहण शक्ति में उन्होंने पर्याप्त निर्भीकता एवं स्वच्छंदता का परिचय दिया है और पूर्वाग्रहों से अपने को पूर्णतया मुक्त रखा है। काव्य शास्त्र सम्बन्धी शुष्क एवं नीरस विषय में भी सरसता उत्पन्न कर उसकी शास्त्रीयता एवं गंभीरता के बावजूद डॉ० नगेन्द्र ने अत्यन्त सरलता एवं सहजता से उन सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है।

१ डॉ० नगेन्द्र रीति काव्य की भूमिका (१९४९) दिल्ली, पृष्ठ१२७-१२८

आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में भी डॉ० नगेन्द्र की आलोचना श्रेष्ठ आधार भूमि ग्रहण करती है। उनकी पहली आलोचनात्मक पुस्तक ही सुमित्रा नन्दन पन्त पर प्रकाशित हुई थी। आधुनिक कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े सुव्यवस्थित एवं संतुलित ढंग से प्राप्त होते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है, इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझ कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं।'[१] अभी तक सिर्फ इतना ही आलोचकों द्वारा कह कर संतोष कर लिया जाता था कि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता के प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ था पर छायावाद के वास्तविक स्वरूप को परिभाषा की सीमाओं में बांध कर स्पष्ट करना एक कठिन कार्य था जिसकी ओर आलोचकों का ध्यान प्रायः कम ही जाता था। इस दृष्टि से छायावाद की यह परिभाषा अपने ढंग की बिल्कुल नई है। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि 'आज का प्रगतिवादी या तो विषयान्तर से अभी भी कुण्ठा का शिकार है अर्थात् उसकी भावना मन की रानी छोड़ मजदूरिन के अंगों से लिपटती है या फिर वह वासना से लथपथ अतिरंजित बीभत्स चित्र उपस्थित कर रहा है।' डॉ० नगेन्द्र के इस मत से मैं सहमत नहीं हूँ। प्रगतिवाद ने मानव मूल्यों को विशिष्टता से ग्रहण करने का सराहनीय कार्य किया है और सजग मानवीय संवेदनाओं की प्रतिष्ठा के लिए अनुपम प्रेरणा प्रदान की है। प्रगतिवाद ने यदि मन की रानी को छोड़ मजदूरिन के अंगों को आत्मसात् किया है तो हमें यह समझना होगा कि जीवन के यथार्थ का चित्रण करने का यही प्रयत्न किया गया है। मन की रानी का चित्रण काफी हो चुका था और किया जा रहा था, पर उस वर्ग को चित्रित करने का प्रयत्न साहित्य में नहीं हो रहा था जो भारत का सच्चा

---

१ विचार और विवेचन (१९४९) दिल्ली, पृष्ठ ५१
२ विचार और विवेचन (१९४९) दिल्ली, पृष्ठ ५१

जनमत था और जिसकी उपेक्षा कर साहित्य स्वयं अपने में आत्म प्रवंचना का शिकार बन रहा था। वह स्थिति ऐसी थी, जब साहित्य कल्पना के रेशमी पंखों पर बैठे कुलाचे भर रहा था और जीवन के यथार्थ से दूर प्रेम और विरह के गीत गा रहा था। इस कुंठाजन्य परिस्थिति में नवीन आशा एवं विश्वास जगाने का कार्य प्रगतिवाद ने ही किया। प्रगतिवाद ने मानव मूल्यों के विघटन को रोकने और मूल्य मर्यादा रहित जीवन की अपेक्षा समानता, गौरव और चिरंतन सत्य की स्थापना पर बल दिया। मेरे विचार से प्रगतिवाद की यह आलोचना डॉ० नगेन्द्र का अन्याय है।

डॉ० नगेन्द्र ने इसी प्रकार प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप माना है। उन्होंने प्रयोगवादी कविता के भावपक्ष, कलापक्ष तथा काव्यानुभूति को अत्यन्त हल्के स्तर का स्वीकार किया है और उसमें अनेक न्यूनताओं को पाया है। प्रयोगवादी कविता की छिछली मनोवृत्ति और छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति की उन्होंने कटु आलोचना की है। डॉ० नगेन्द्र की इस आलोचना से किसी को असहमति नहीं हो सकी। जहाँ तक मैं समझता हूँ, प्रयोगवादी कविता का जन्म नए तरुण कवियों का छायावाद और प्रगतिवाद की सशक्तता के विरोध में प्रकाश में आने की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था, जिसे अज्ञेय ने नेतृत्व प्रदान किया था। प्रयोगवादी कविता के पास अपना कोई जीवन दर्शन नहीं है। आयाम परिवेश, नई सुबह और आत्म विश्वास आदि तथाकथित शब्दों को प्रचारवाद के लिए साधन बनाना और अपना मतलब साधना (प्रकाश में आना) प्रयोगवादी कविता का यही जीवन दर्शन था। फतवे देने का काम सबसे ज्यादा प्रयोगवादी कवियों ने ही किया है, ऐसे फतवे जो अर्थ शून्य तो हैं ही, अभिव्यक्ति की समर्थता से भी परे हैं। प्रयोगवादी कविता ने पिछले वर्षों में न कोई ऐसा व्यक्तित्व उत्पन्न किया जो अपने चतुर्मुखी व्यक्तित्व द्वारा युग का आकलन कर सके और उचित निर्देश दे सके, न भाव, भाषा और विषयवस्तु के सम्बन्ध में उसने कोई क्रान्ति उत्पन्न की, न मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए कोई प्रयत्न विशेष किया, न शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। मूल्य मर्यादा रहित समाज को उसने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। डॉ धर्मवीर भारती और दुष्यन्त कुमार जैसे कुछ 'नए' कवियों ने पराजित पीढ़ी के भाँति आकर अपने भोंडेपन और भावना की शून्यता का परिचय अवश्य दिया है। पराजित पीढ़ी फिर जीतेगी, क्योंकि कल नया सूरज चमकेगा—नयी कविता ने यह बताया है। रास्ता

कौन सा होगा, इसे जब कोई प्रयोगवादी कवि स्वयं ही नहीं समझ सका तो उसे वह क्या स्पष्ट करता। तभी कविता को लेकर रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, विजय देवनारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि ने 'महान् आलोचक' बनने की धुन में जो बेसिर पैर के फतवे दिए और जिस जोरदार दलीलों से नयी कविता को महान् सिद्ध करने का तर्कहीन प्रयत्न किया है, डॉ० नगेन्द्र ने उसका उचित पर्दाफाश कर प्रयोगवाद के नकली चेहरे को उतार दिया है।

डॉ० नगेन्द्र की आलोचना सिद्धान्तों में जो बात मुझे सबसे ज्यादा खटकी है वह है उनका प्रेमचन्द को द्वितीय श्रेणी का लेखक स्वीकार करना।[1] मुझे ऐसा लगता है कि ऐसा लिखते समय डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचन्द साहित्य का या तो गहन अध्ययन नहीं किया और यदि किया तो अपनी धारणा को कुछ जल्दी में लिख गए हैं। प्रेमचन्द मनोविज्ञान का उपन्यासों में प्रयोग करने वाले हिन्दी में पहले उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों पर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक चिंतन का आवरण खुल्लमखुल्ला लादने का प्रयत्न नहीं किया है। पृष्ठ के पृष्ठ उन्होंने दर्शन या मनोविश्लेषण सिद्धान्त की मान्यताओं की व्याख्या करने में नहीं भरे हैं और न उसे अपने पात्रों के ऊपर आरोपित करने का प्रयत्न ही किया है। उनके उपन्यास के पात्रों में मनोविज्ञान का प्रवेश स्वयंमेव हुआ है। पात्रों के चरित्र, उनकी जीवन प्रक्रियाओं, उनके अनुभवों, वार्तालापों सभी में मनोविज्ञान का प्रभाव अन्तर्निहित है। वह ऊपर से नहीं झलकता। मेरे विचार से किसी उपन्यासकार की यह सर्वश्रेष्ठ कलात्मकता होती है। इसकी परख करने के लिए मानव मनोविज्ञान का गहन परिचय और अनुभव चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि शास्त्रीय और सैद्धान्तिक समीक्षा प्रणाली के वातावरण में डॉ० नगेन्द्र को कदाचित् इसका अवकाश नहीं प्राप्त हुआ है, नहीं तो वे ऐसा कभी न लिखते। सुमन का अपने सामने रहने वाली भोली वेश्या से प्रभावित होकर वेश्या बनना और उसकी मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण, जालपा और रमानाथ के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण और उसी वातावरण में उनकी चारित्रिक गतिशीलता, मालती के प्रारम्भिक जीवन की विलासिता और बाद में त्यागवृत्ति एवं जीवनगत मर्यादा की ओर प्रयाण, मनोरमा के प्रारम्भिक जीवन की कोमलता और चपलता का अन्त में शुष्कता, [illegible]हीनता और

---

1 डॉ० नगेन्द्र विचार और विवेचन (१९४९) दिल्ली पृष्ठ ९९

कठोरता में परिणति आदि ऐसी बातें हैं जो मनोविज्ञान से ही सम्बन्धित हैं और बिना मनोविज्ञान की सहायता से जिनका चित्रण कभी सम्भव नहीं हो सकता था। इसी आधार पर प्रेमचन्द हिन्दी कथा साहित्य के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं, न कि जैनेन्द्रकुमार, जैसा कि प्राय: भूल से कह दिया जाता है। मैं विश्वास करता हूँ, डॉ० नगेन्द्र इसका पुनर्मूल्यांकन करेंगे और प्रेमचन्द को निर्विवाद रूप से प्रथम श्रेणी का कलाकार स्वीकार करने में उन्हें नि:संकोच कोई आपत्ति न होगी। प्रेमचन्द हिन्दी कथा साहित्य के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं और वह भी प्रथम श्रेणी के, यह असंदिग्ध है। इस सम्बन्ध में कोई दो राय हो ही नहीं सकती।

डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दी समालोचना के विकास में अपना महत्वपूर्ण योग-दान प्रदान किया है। उनमें गहन चिन्तन है, मौलिक सूझ-बूझ है और सोचने और निष्कर्ष निकालने की अपनी प्रणाली है। उनका सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त प्रौढ़ एवं तर्कसंगत है। काव्य शास्त्र के व्याख्याकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् डॉ० नगेन्द्र का ही स्थान है यह निर्विवाद है। पाश्चात्य और भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन एवं उनकी मनोविज्ञान की कसौटी पर परख कर उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे अत्यन्त उच्चकोटि के शास्त्र-सम्मत हैं। डॉ० नगेन्द्र की आलोचना शैली में बौद्धिकता तथा भावात्मकता का अपूर्व समावेश हुआ है। सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी समालोचकों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी आलोचनात्मक शैली प्राय: समन्वयात्मक रही है। उन्होंने साहित्य में प्रचलित प्रत्येक अतिवाद का विरोध किया है। ऐसे आलोचक 'जो कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना उलझ जाते हैं कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो जाती है, नहीं हैं। संकल्पात्मक कल्पना उनकी आलोचनात्मक शैली की एक प्रमुख विशेषता है। किसी कवि अथवा रचना के भावपक्ष एवं कलापक्ष की शास्त्रीय समीक्षा करके ही उन्होंने संतोष नहीं धारण कर लिया है। रचना के पुनर्निर्माण एवं न्यूनताओं के प्रति मार्ग दिग्दर्शन उसकी प्रमुख विशेषता है, जो रचनात्मक आलोचना पद्धति का ही एक स्वरूप है। उनकी भाषा बड़ी सजीव और सरस है। क्लिष्ट संस्कृतनिष्ठ भाषा के वे कभी हिमायती नहीं रहे हैं। भाषा की सरल अलंकारिकता उनकी अपनी विशेषता है।

शिवदान सिंह चौहान

हिन्दी के प्रगतिवादी समालोचकों में शिवदानसिंह चौहान का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज के सभी प्रगतिवादी आलोचकों में प्रगतिवाद की आत्मा पहचानने का वास्तविक श्रेय शिवदानसिंह चौहान को ही है। उन्होंने प्रगतिवाद का अर्थ इस प्रकार ग्रहण किया है : 'प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक गुणों को प्रकाश में लाता है; अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती हुई परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों व्यंग, प्रतीक, उपमाओं, रूपक और शैली आदि की सामाजिक पृष्ठ भूमि का दिग्दर्शन करता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में देखकर उसकी सौन्दर्य शक्ति का मूल्यांकन करता है।'[1] यही वह दृष्टि है जिसने उनके प्रगतिशील आलोचनात्मक दृष्टि को यह कहने के लिए बाध्य कर दिया था कि नवीन क्रांतिकारी दृष्टिकोण के कारण जो नवीन प्रभाव इस समय विश्वसाहित्य में आये हैं उनको भारतीय समीक्षा पद्धति में अवतरित करना शुक्ल जी द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देना है, उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमजोर कन्धों पर आ पड़ा है, उसके गुरुत्व का हम अनुभव कर रहे हैं।'[2] शिवदान सिंह की यह उक्ति उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। उन्होंने यह दायित्व पूरी ईमानदारी और सत्यता के साथ निभाई है और निभाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

शिवदानसिंह चौहान साहित्य में मानव मूल्यों के विघटन के पूर्णतया विरुद्ध हैं। वे साहित्य में प्रगतिशील तत्वों के मूल्यांकन एवं अन्वेषण के प्रति आग्रहशील हैं। उन्होंने अपनी आलोचना में 'भाव' नहीं अभाव को स्थान दिया है। इसीलिए वे भावुकता के प्रवाह में बहने वाले तर्कहीन आलोचक

---

१ शिवदान सिंह चौहान : प्रगतिवाद, पृष्ठ ५

२ शिवदान सिंह चौहान : साहित्य की परख, पृष्ठ ६०

नहीं गंभीर विचारक हैं। हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना पद्धति को प्रौढ़ एवं सुव्यवस्थित रूप में प्रारम्भ करने का श्रेय उन्हीं को है। यह कार्य उन्होंने अपने 'हंस' के सम्पादन काल में प्रारम्भ किया था। उस समय उनके सामयिक और अनिवार्य आन्दोलन का मज़ाक भी उड़ाया गया था और उसकी तीव्र आलोचना करके उन पर कटु प्रहार भी किए गये थे। उन्होंने इससे अपने दृष्टिकोण को किसी मूल्य मर्यादा रहित व्यक्ति की भाँति छोड़ा नहीं, विकसित किया, 'क्योंकि युगों के रूढ़ संस्कारों और रागद्वेषों की अस्वस्थ निर्जीव परंपराओं के स्थान पर नये भावमूल्यों, नये सौन्दर्य मानों और साहित्य और समाज के नये सम्बन्धों की स्थापना ऐसे व्यापक आधार पर करना है जिसमें प्राचीन की स्वस्थ प्राणदायक परंपराओं का भी नये वस्तु-सत्य के स्पर्श से नित्य नूतन संस्कार होता चले और इस प्रकार वे अपने को अक्षुण्ण रख सकें और हमारे वर्तमान और भावी जीवन को प्राचीन ज्ञान और भावसौन्दर्य की निधि से निरन्तर समृद्ध करती चलें।'[1] ऐसा महान् कार्य साहित्य के माध्यम से केवल प्रगतिवाद ही कर सकता था और इस दृष्टि से प्रगतिवादी आलोचक पर महान उत्तरदायित्व आ पड़ा था, जिसका निर्वाह शिवदान सिंह चौहान ने अत्यन्त सफलतापूर्वक एवं श्रेष्ठ ढंग से किया है।

शिवदान सिंह चौहान ने साहित्य में प्रचलित आदर्शवाद का विरोध कर समाजवादी यथार्थवाद की स्थापना पर बल दिया। प्रगतिवाद का भी मूलमंत्र यही है। वह चाहता है कि कलाकार अपने साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद की स्थापना कर ऐसे वातावरण की सृष्टि में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करें जिससे समाज में शोषण वृत्ति और पूँजीवाद के नाश की प्रेरणा मिल सके। ये दोनों ही मानव जाति की जड़ें खोद रहे हैं और समाज से प्रेम, परस्पर सौहार्द्र एवं विश्वास और सत्य के साथ सहानुभूति को समाप्त कर व्यापक घृणा का प्रचार एवं प्रसार उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसे में एक ऐसी समाजवादी क्रांति की आवश्यकता है जो वर्तमान सामाजिक रूपविधान को उलट-पुलट दे और ऐसी व्यवस्था की स्थापना करे जिससे समाज में समानता की स्थिति आए, राष्ट्रीय आय पर सबका समान अधिकार हो, रूढ़ रस्म-रिवाज़ समाप्त हों, ऊँच-नीच का भेद समाप्त हो और सच्चा जनवादी समाज स्थापित हो। ऐसी स्थिति में समाज में एक ऐसे चिरंतन सत्य एवं आनन्द

1 शिवदान सिंह चौहान : प्रगतिवाद, पृष्ठ १

का आविर्भाव होगा, जिसमें सारी मानवजाति का कल्याण अन्तर्निहित है। यही है प्रगतिवादी दृष्टिकोण, जिसे मैं समझता हूँ, महान् है, स्तुत्य है। यही दृष्टिकोण वर्तमान संकट, निष्क्रियता, अनाचार एवं उत्पीड़न से हमें मुक्ति दे सकता है। मुझे प्रसन्नता है कि शिवदान सिंह चौहान इसी आधार पर अपनी मान्यताएं स्थापित कर प्रगतिवादी दृष्टिकोण से साहित्य की परख कर रहे हैं। उन्होंने अपने को नीर-क्षीर विवेचन तक ही सीमित न रख कर कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करने और उसके सौन्दर्यमूल्यों के निरूपण करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करना आवश्यक है। साहित्यिक प्रगतिशीलता के लिए यही अनिवार्य है।

उनके विचार से साहित्य की विशेषता कुछ और होती है। वह कर्तव्य को आत्मसात करके चलती है। हमें प्रचार करना चाहिए या साहित्य लिखना चाहिए, इन प्रश्नों से वह दूर है। प्रश्न उठता है, साहित्यकार का दायित्व क्या है? इसका उत्तर देते हुए शिवदान सिंह चौहान कहते हैं कि 'साहित्यकार की विशेषता यही है कि उसके अनुभूत की अभिव्यक्ति कलात्मक होती है फिर हमारे मन में प्रचार और साहित्य का प्रश्न उठकर द्वन्द्व क्यों मचाता है? और जब हम अपनी लेखनी के अस्त्र से लड़ने की घोषणा करते हैं तो क्या हमारा आशय अपनी रचनात्मक शक्ति और कला नैपुण्य से नहीं होता।'[1] और फिर 'कलाकार के ऊपर प्रगतिवादी या मार्क्सवादी 'लेबुल' का लगा होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति अर्थात व्यवस्था, सामंजस्य और युक्ति निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होती है। अपने संस्कृति विधायक रूप में कला या साहित्य भी स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः यह जरूरी नहीं है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त के सामने रखकर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बना दे।'[2] 'महान् साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप में जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है अतः उसकी एक मात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद ही है।'[3] चिरजीवी प्राणवान् साहित्य की विरासत प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में योग दिया है, दे रही है, और इस

---

१ हंस, जान० फ० '४४ पृष्ठ २४५
२ साहित्य की परख, पृष्ठ २५
३ आलोचना ४, पृष्ठ ३

युग में भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को गहराई और कलात्मक सच्चाई से प्रतिबिम्बित करता है वह भी प्रगतिशील है, चाहे उसकी रचना करने वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी ।[४] फिर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है 'पन्द्रह साल हो गये जबसे 'मार्क्सवाद' कम्युनिष्ट पार्टी और जनता का सक्रिय कार्यकर्ता रहा हूँ, आजीवन रहूँगा। यही मेरा जीवन है, यही मेरा वस्तुदर्शन है और विज्ञान है। केवल पढ़-लिखकर पाया हुआ ही नहीं, वरन् उपचेतना में आत्मसात् होकर रक्तमांस में घुलमिल कर हृदय में पुनः अम्मा, वस्तुज्ञान के इन्द्रियम बोध के साथ-साथ मन में सतत् पनपा, वृत्तियों संवेदनों, मनोवेगों और सहज भाव प्रतिक्रियाओं के सहारे चेतना में विकास पाया-मार्क्सवाद मेरे जीवन का श्वास है।'[५] अपने इन दृष्टिकोणों को शिवदान सिंह चौहान ने अपनी आलोचनाओं में बराबर अभिव्यक्त किया है। कहना न होगा कि उनकी आलोचना प्रणाली प्रगतिवादी है। उन्होंने भाषा और शैली को भी जनवादी बनाने का प्रयत्न किया है। भाषा पर उन्होंने कभी अपना पाण्डित्यप्रदर्शन करने का प्रयत्न नहीं किया है। उन्होंने मात्र डाक्टरों, गवेषणार्थियों एवं आचार्यों को ही समझाने के लिए चीजें नहीं लिखी हैं। उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो भारत की अधिकांश जनता तक पहुँच सके और वह उसे समझ सके।

इलाचन्द्रजोशी

हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-पद्धति के प्रवर्तक इलाचन्द्रजोशी ही हैं। उन्होंने ही इसका खूब प्रचार एवं प्रसार किया है। हिन्दी साहित्य उनके उपन्यासों से तो परिचित है ही जिनकी पृष्ठभूमि मनोविश्लेषणात्मक है। फ्रायड, एडलर और युग के सिद्धान्तों का प्रयोग उन्होंने अपने उपन्यासों में तो किया ही, साथ ही अपनी समीक्षा प्रणाली में भी किया। मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का उपयोग समीक्षा प्रणाली में करना इसलिए उपयोगी है, क्योंकि जिस प्रकार मनोविज्ञानवेत्ता गण किसी व्यक्ति के स्वप्नों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने पर उसके चरित्र की मूल बातों का पता लगा लेते हैं उसी प्रकार किसी कलाकार की कृति से उसके मन के भीतर के द्वन्द्व, उसकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक वृत्तियों के ताड़न अथवा स्वास्थ्यकर मान-

४ आलोचना २, पृष्ठ ३
५ नई चेतना अंक ५, पृष्ठ ३४

दीय भावनाओं के आलोड़न-विलोड़न का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर साहित्य की परख करने के लिए उन्होंने मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति को चुना है। यहाँ जोशीजी के आलोचना सिद्धान्तों पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

जोशीजी की धारणानुसार 'कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है।''''विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया चक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है—यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।'[1] इस प्रकार जोशी जी ने कला का एक मात्र उद्देश्य आनन्द स्वीकार किया है और उसे ही सर्वोपरि स्थान दिया है। कला यदि शिक्षा और उपदेश देने के स्तर पर उतर आती है तो उसका स्वरूप अशुद्ध हो जाता है और वह कला न रहकर कुछ और हो जाती है। अतः कला का सृजन केवल आनन्दोपलब्धि के लिए होना चाहिए। आनन्द प्रयोजनातीत होता है, इस दृष्टि से जोशीजी आनन्दवाद के अधिक समीप आते हैं।

छायावाद के सम्बन्ध में जोशी जी की मान्यताएँ नवीन हैं, साथ ही अमूल्य भी। वे कहते हैं कि 'छायावादी हवाई लोक में ऊँची उड़ान भर कर मिट्टी के पुतलों पर अपनी स्वर्गीयता की जो धाक जमाते रहते हैं, वह भी पहलवानों के शारीरिक विकास की तरह ही पोपली है। उससे केवल उनके अहंभाव के चरम विकास का ही पता चलता है। इसके अतिरिक्त समाज या संसार को कोई लाभ उससे नहीं हो सकता।'[2] 'छायावादी अपनी निपट अक्षमता की पूर्ति केवल कल्पना-लोक से जियेषता प्राप्त करके ही नहीं करते रहे हैं बल्कि अपनी छायामयी कल्पना को क्षुधा-तृष्णा पीड़ित मर्त्य लोक

१ इलाचन्द्र जोशी : साहित्य सर्जना पृष्ठ ११-१२-१३
२ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना पृ० ५९ (सं० २००५)

से दूर और अधिक दूर ले जाने की होड़ आपस में लगाते रहे हैं।'[1] इस प्रकार छायावाद ने कभी जीवन की यथार्थवादी दृष्टि नहीं ग्रहण की और अपने को जीवन के कटुसत्यों से दूर रखा। वह सदैव ही कल्पना लोक में विचरण करती रही और प्रेम तथा विरह के गीत गाने और आध्यात्मिक लोक का निर्माण करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती रही। जोशी जी ने इसका खूब पर्दाफाश किया है। जिस सौन्दर्य की चर्चा करते छायावादी कभी अघाते नहीं थे, वह भी एक धोखा था। उसके माध्यम से कवियों ने अपनी दमित-शमित भावनाओं, कुंठाजन्य निराशा, अतृप्त वासना एवं इसी प्रकार की अपूर्ण इच्छाओं के अवचेतन में होने वाले विस्फोट और चेतन में उनके अभिव्यक्त होने की असक्तता को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। पिछले दिनों मुझे छायावादी कविता का विशेष अध्ययन करने की सनक सवार हुई। सौभाग्य से मुझे रामकुमार वर्मा के कुछ काव्य संग्रह प्राप्त हो गए। उनके सम्बन्ध में यह प्रचारित किया जाता रहा है कि वे पन्त, प्रसाद निराला और महादेवी के साथ ही छायावादी कविता के प्रवर्त्तक हैं। हालांकि वे हैं नहीं और ऐसा भ्रम से कह दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे उनके कुछ विद्यार्थी आवेश में आकर उन्हें हिन्दी एकांकी का 'जनक' सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, जबकि उनसे भी पहले भुवनेश्वर का 'कारवां' प्रकाशित हो चुका था, और वही उसके वास्तविक प्रवर्तक भी हैं। भुवनेश्वर के एकांकी रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों से कहीं श्रेष्ठ और कलात्मक हैं। खैर! तो जब मैंने रामकुमार वर्मा के गीत पढ़ने प्रारम्भ किए तो मुझे ऐसा लगा कि ये गीत काव्य के सौन्दर्य तत्वों का बोध नहीं कराते। वरन् एक व्यक्ति की अतृप्त वासना, निराशा एवं कुंठाजन्य परिस्थितियों का परिचय कराते हैं। मूल्य-मर्यादा रहित वह काव्य मुझे रस ही देना पड़ा। उसके साथ ही छायावादी कविता के 'विशेष' अध्ययन की सनक भी समाप्त हो गई। इस दमितशमित भावना की अभिव्यक्ति की ओर संकेत करते हुए जोशी जी ने स्पष्टतः कहा है, 'वे सौन्दर्य की सहज ओट में अपने विकृत मनोभावों को व्यक्त करके अपने भीतर के दाम्भिकता जनित स्वार्थ क्लेश युक्त फोड़ों को फोड़ना'[2] अपना उद्देश्य समझते थे। जोशी जी के इस मत को

१ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना पृ० ५९
२ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना पृ० ६४

स्वीकार कर लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह सत्यता एवं यथार्थता का परिचय कराती है और छायावादी कवियों के चेहरे के 'रंग बिरंगे', 'गुह्य से परिपूर्ण', 'अध्यापकीय गंभीरता' की ओट में छिपे हुए चेहरे को आवरणहीन करके सही रूप में उपस्थित करती है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी जोशी जी की मान्यताएँ विचारणीय हैं। सौन्दर्य क्या है? उसका वास्तविक उद्देश्य क्या होता है? और साहित्य में सौन्दर्य का उपयोग किस प्रकार होता है—इन मौलिक प्रश्नों का उत्तर उन्होंने अपने ढंग से देने का प्रयत्न किया है। बाह्य-रूप अथवा अभिव्यक्ति मात्र में ही उन्होंने सौन्दर्य की परिकल्पना नहीं की है। वे वस्तुन्मुखी तत्व को भी प्रधानता देते हैं। उनके अनुसार सौन्दर्य का कोई निश्चित मापदण्ड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। यह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का संयोग; सुन्दर, मंगल, और सत्य का सामंजस्य।[1] अपने सौन्दर्य सम्बन्धी इस व्यापक दृष्टिकोण का उपयोग उन्होंने अपनी समीक्षा प्रणाली में भी किया है। जोशी जी की आलोचना शैली बड़ी स्पष्ट एवं हृदयग्राही है। उन्हें पश्चिमी साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों का विशद ज्ञान है और उनकी कसौटी पर उन्होंने भारतीय साहित्य की कसौटियों को परखा है और उसकी आलोचना की है। यद्यपि कहीं-कहीं जोशी जी अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं कर सके हैं और उनका दृष्टिकोण एकांगी प्रतीत होने लगता है, पर अधिकांश रूप में उनकी आलोचना सुव्यवस्थित और संतुलित है। उनकी भाषा बड़ी सजीव और मार्मिक है। कहीं-कहीं तो कविता का सा आनन्द आने लगता है, इतना उसमें प्रवाह है।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हिन्दी आलोचना में शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति का अनुसरण करने वाले आलोचकों में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिन्दी वाङ्मय विमर्श' तथा 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। रीति कालीन कविता पर की गई उनकी आलोचनाएँ विशेष महत्व की हैं। उन्होंने इसे रीतिकाल न स्वीकार कर 'श्रृंगार काल' स्वीकार किया है। अपने पक्ष के समर्थन में मिश्र जी ने अनेक तर्क भी उपस्थित किए हैं। वैसे तो शुक्ल जी ने भी यह स्वीकार किया था

---

१ इलाचन्द्र जोशी : साहित्य सर्जना पृ० १९

कि इस काल में शृंगार की ही साहित्य में विशेष प्रधानता रही है। मिश्रजी ने उन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर ही अपनी मान्यता स्थापित की है। उन्होंने यह माना है कि संसार में दो प्रकार के काव्य विशेष रूप से स्थायी रह सकते हैं। एक भक्तिकाव्य दूसरे वीर काव्य।' मिश्र जी की मान्यता किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं की जा सकती। प्रेमचन्द, टालस्टाय, जॉन स्टाइनबेक, शैली, इलियट, सल्हमग्रीन आदि का साहित्य न तो भक्ति से सम्बन्धित है और न वीरता से, तो क्या इन महान् साहित्यकारों द्वारा रचा गया साहित्य स्थायी नहीं होगा? अपने हिन्दी साहित्य में ही क्या 'त्याग पत्र' का महत्व स्थायी न होगा? क्या 'भूले-बिसरे चित्र' पाँच वर्ष पश्चात् समाप्त हो जाएगा? वास्तव में मिश्रजी ने परंपरागत आदर्शों का मिश्रण अपनी आलोचना प्रणाली में अधिक करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि वे कहते हैं, 'परंपरा पालन से दोष भी होते हैं। परम्परा का पालन करने वाला अपने रूप की रक्षा करता है, वह प्रवाह में बह नहीं जाता, हवा में उड़ता नहीं, यह भी सत्य है।' पर मिश्र जी कहीं-कहीं प्रवाह में बह ही गए हैं, यह सत्य है। मिश्र जी ने बिहारी पर जो कुछ भी लिखा है, बड़ा प्रामाणिक और शास्त्रीय है। उनका अध्ययन बड़ा गहन है और वे चिन्तक भी सूझ-बूझ के हैं। उनकी आलोचना शैली गुण दोषों का विवेचन करने वाली है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों को अन्तिम सत्य समझ कर स्वीकार कर लिया है और नवीनतम प्रवृत्तियाँ उन्हें ग्राह्य नहीं हैं। उन्होंने एक स्थान पर कहा है, 'इसी प्रकार टेढ़े-सीधे मतों का सहारा लेकर प्रगति-प्रगति की भीषण पुकार मचाई जा रही है।''' साहित्य में साम्यवाद, समाजवाद आदि नवीन मतों को आधार मान कर चलना देश को चौपट करना तो है ही, साहित्य को भी अपभ्रष्ट कर देना है।' मिश्रजी का यह दुराग्रह है। साहित्य की गति कभी स्थायी नहीं रहती। उसमें परिवर्तन होते रहते हैं और वह गतिशीलता की ओर निरन्तर अग्रसर रहती है। यदि ऐसा न हो तो साहित्य की प्रगति कुंठित हो जाए। यह आवश्यक नहीं है कि नवीन प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर ही लिया जाए, पर उन्हें परमार्जित एवं संशोधित कर उनका समावेश साहित्य में करना ही पड़ता है। पता नहीं मिश्रजी जैसे गंभीर चिन्तक एवं आलोचक इसे क्यों नहीं समझ पाते?

लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'

साहित्यालोचन के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की कीर्ति का श्रेय

काव्य में अभिव्यंजनावाद नामक इनकी पुस्तक को है। अपनी ढंग की यह अकेली पुस्तक है और सुधांशु जी के गम्भीर चिन्तन एवं आलोचक व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय कराती है। उनके निष्कर्ष काव्यकला के लिए, सिद्धान्त के कुछ अनुरूप हैं। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के अधिकांश रूप में वे समर्थक ही रहे हैं। सुधांशु जी ने सौन्दर्य और आनन्द, सौन्दर्य में निजत्व, काव्यानुभूति और साधारणीकरण, काव्यानुभूति और रसानुभूति, प्रकृति वैचित्र्य और आलम्बनत्व, धर्म का काव्यगत पात्र के साथ तादात्म्य, तादात्म्य और शक्तिदर्शन आदि प्रश्नों पर बड़ी गभीरता एवं मौलिकता से समीक्षाएं की हैं। क्रोचे ने अलंकार और अलंकार्य में कोई भेद नहीं स्वीकार किया है। सुधांशु जी इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि भारतीय आचार्यों ने ऐसा नहीं स्वीकार किया था। उन्होंने अलंकार को रस का सहायक माना है। अलंकार यदि रसानुभूति में सहायक नहीं है तो सुधांशु जी उसे अलंकार मानने को तत्पर नहीं हैं। उनके अनुसार जीवन और जगत से निरपेक्ष रहना मनुष्य के लिए एक कठिन व्यापार है और कवि के लिए तो सर्वथा असंभव ही है। इसे स्वीकार करने में कठिनाई है। ऐसे मनुष्य और कवि होते हैं, जो जीवन और जगत से नितान्त रूप से भी सम्बन्धित नहीं होते और काल्पनिकता एवं अयथार्थता ही जिनकी आधारभूमि होती है। छायावादी कविता एवं काव्य इसका प्रमाण है। इस दृष्टि से सुधांशु जी के इस मत को स्वीकार कर लेने में कठिनाइयां हैं। उन्होंने सुख तथा दुःख को जीवन का मूल भाव माना है जिनसे अद्भुत राग तथा द्वेष आश्रय और आलम्बन के विचार से मनोविकारों के कई रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। रस निष्पत्ति के यही मूल तत्व हैं। उन्होंने प्रेम को काव्य प्रेरणा का एक मौलिक आधार माना है। उनके अनुसार काव्य में प्राकृत जीवन की सत्ता एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है और जिस जीवन में प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है, काव्य में उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है। स्वान्तः सुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनन्दनीय नहीं माना जा सकता। उसमें लोक सृजन या लोक कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मानदण्ड है। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' उनकी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक है। उनकी शैली में गंभीरता तथा प्रौढ़ता है। उन्होंने मुख्य रूप से सैद्धांतिक शैली का ही अनुसरण किया है।

विनय मोहन शर्मा

विनयमोहन शर्मा की पांच पुस्तकें दृष्टिकोण, साहित्यकला, कवि प्रसाद,

आंसू तथा अन्य कृतियाँ तथा साहित्यावलोकन प्रकाशित होकर पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। उनके कुछ विचार इस प्रकार हैं, 'फ्रायड की व्याख्या में हमें एकांगीपन दीखता है। प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में अतृप्त विकारों-इच्छाओं का ही प्रतिबिम्ब होता है? हम देखते हैं 'तृप्त' वासनाओं, अनुभूत विकारों का भी चित्रण साहित्य में रहता है। सच बात यह है कि तृप्त और अतृप्त दोनों प्रकार की 'वासनाएँ' साहित्य सृजन की पृष्ठभूमि तैयार करती हैं।''''मनोविश्लेषण की परम्परा ने हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यासों को जन्म दिया है, जिनमें मानव स्वभाव की मूल और संस्कृत प्रवृत्ति की हत्या की गई है और विकृत मस्तिष्क के क्रीड़ा कलाप को उभार कर प्रस्तुत किया गया है।' इसी प्रकार मार्क्सवाद के सम्बन्ध में भी शर्माजी ने विचार प्रकट किए हैं,''''मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकांगीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। उन्होंने फ्रायड का सहारा लिया। आसबोर्न ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद की एकांगिता नष्ट करनी है, तो फ्रायड के मानस तत्वों को अपनाना होगा।' परन्तु फ्रायड की अनुसंधान-दिशा भी भ्रमपूर्ण है, उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है, परन्तु उसमें भी एकांगीपन का दोष आ गया है।' पर शर्माजी का यह मत अधिक समीचीन नहीं है। यह गहन् अध्ययन का परिचायक नहीं हल्के-पन का प्रतीक है। मनोविश्लेषण शास्त्र में कुछ अभावों के होते हुए भी एकांगिता नहीं है। मार्क्सवाद में तो एकांगिता किसी भी रूप में है ही नहीं।

परिशिष्ट : १

अनुक्रमणिका (पुस्तक एवं पत्र-पत्रिकाएँ)

परिशिष्ट : १

अनुक्रमणिका (लेखक)
